श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्य-विरचित

चतुर्विंशति-जिन-स्तवनात्मक

स्वयम्भू-स्तोत्र

(स्तुतिपरक जैनागम)

[समन्तभद्र-भारतीका एक प्रमुख अङ्ग]

—+++—

अनुवादक और परिचायक

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

अधिष्ठाता 'वीर-सेवा-मन्दिर'

—+++—

प्रकाशक

वीर-सेवा-मन्दिर

सरसावा जिला सहारनपुर

प्रथम संस्करण १०००	आषाढ, वीर नि० संवत २४७७ वि० सं० २००८, जुलाई १९५१	मूल्य दो रुपये

विषयानुक्रम

कुल पृष्ठसंख्या—२१६

रामा प्रिंटिंग वर्क्स, चावड़ी बाजार, देहली

समर्पण

त्वदीयं वस्तु भोः स्वामिन् !

तुभ्यमेव समर्पितम् ।

हे आराध्य गुरुदेव स्वामी समन्तभद्र ! आपकी यह अनुपम-कृति 'स्वयम्भूस्तोत्र' मुझे आजसे कोई ५० वर्ष पहले प्राप्त हुई थी। उस वक्तसे बराबर यह मेरी पाठ्यवस्तु बनी हुई है और मैं इसके अध्ययन-मनन तथा मर्मको समझनेके यत्न-द्वारा इसका विशेष परिचय प्राप्त करनेमें लगा रहा हूँ। मुझे वह परिचय कहाँ तक प्राप्त हो सका है और मैं कितने अंशोंमें इस ग्रन्थके गूढ तथा गम्भीर पद-वाक्योंकी गहराईमें स्थित अर्थको मालूम करनेमें समर्थ हो सका हूँ, यह सब संक्षेपमें ग्रन्थके अनुवाद तथा परिचयात्मक प्रस्तावनासे जाना जा सकता है और उसे पूरे तौर-पर तो आप ही जान सकते हैं। मैं तो इतना ही समझता हूँ कि आपका आराधन करते हुए आपके ग्रन्थोंसे, जिनका मैं बहुत ऋणी हूँ, मुझे जो दृष्टि-शक्ति प्राप्त हुई है और उस दृष्टि-शक्तिके द्वारा मैंने जो कुछ अर्थका अवलोकन किया है, ये दोनों कृतियां उसीका प्रतिफल हैं। इनमें आपके ही विचारोंका प्रतिबिम्ब होने-से वास्तवमें ये आपकी ही चीज हैं और इसलिये आपको ही सादर समर्पित हैं। आप लोक-हितकी मूर्ति हैं, आपके प्रसादसे इन कृतियों-द्वारा यदि कुछ भी लोक-हितका साधन हो सका तो मैं अपनेको आपके भारी ऋणसे कुछ उऋण हुआ समझूँगा।

विनम्र

जुगलकिशोर

सुफल

सन् १९३९ में श्रीमान् बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता-का भतीजा चि० चिरञ्जीलाल सख्त बीमार पड़ा था, कलकत्ताके सुप्रसिद्ध वैद्यों तथा डाक्टरोंने जवाब दे दिया था और उसे घंटे दो घंटेका मेहमान बतलाया था। इस निराशाके वातावरणमय कठिन अवसरपर बाबू साहबने शुद्ध हृदयसे भ० स्वामी समन्त-भद्रका स्मरण करके रोगीके आरोग्यकी कामना की और अपनी ओरसे ५००) रु० के दानका संकल्प किया। उसी समयसे रोगी-के रोगने पलटा खाया और वह वैद्यों-डाक्टरोंको आश्चर्यमें डालता हुआ शीघ्र ही नीरोग हो गया। अतः बाबू साहबने तभी पांचसौ रुपयेकी उक्त रकम अपने संकल्पानुसार वीरसेवामन्दिर सरसावाको ग्रन्थ-प्रकाशन-जैसे पुण्य-कार्यकी सहायतार्थ दानमें भेज दी थी। स्वामी समन्तभद्रके प्रस्तुत ग्रन्थ-रत्नका यह प्रका-शन उसी दानका एक सुन्दर सुमधुर फल है। आशा है बाबू छोटेलालजी इस सुफलको पाकर और इसके दर्शन, स्पर्शन, सुगन्ध-सेवन एवं रसास्वादन-द्वारा दूसरोंको भी लाभान्वित होता हुआ देखकर प्रसन्न होंगे।

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

प्रकाशकीय वक्तव्य

यह 'स्वयम्भूस्तोत्र' अपने अनुवादके साथ बहुत अर्सा हुआ छपचुका था, देहली प्रेसमें ही रक्खा हुआ था और प्रकाशनके लिये 'प्रस्तावना' की वाट जोह रहा था। ग्रन्थके मर्मका उद्घाटन करते हुए इसकी प्रस्तावनाको मैं जिस रूपमें लिखना चाहता था उसके अनुरूप मुझे यथेष्ट अवसरके साथ चित्तकी स्थिरता और निराकुलता नहीं मिल रही थी—मैं निरन्तर ही कुछ ऐसी परिस्थितियों एवं अनवकाशोंसे घिरा रहा हूँ जिनके कारण हृदय तथा कागज पर कुछ नोटोंके अंकित रहते हुए भी अभीष्ट प्रस्तावनाके लिखनेमें मेरी प्रवृत्ति नहीं हो सकी। सचमुचमें किसी विशिष्ट साहित्यका सृजन अथवा सरस्वती देवीकी मूर्तिके अङ्ग-विशेषका निर्माण अपने लिये बहुत कुछ अनुकूलताओंकी आवश्यकता रखता है, वे जब तक नहीं मिलतीं तब तक इच्छा रहते भी यथेष्ट कार्य नहीं हो पाता। यही वजह है कि इस ग्रन्थके प्रकाशनमें आशातीत विलम्ब हो गया है और उसके कारण कितने ही पाठकोंको बहुत कुछ प्रतीक्षाजन्य कष्ट उठाना पड़ा है, जिसका मुझे भारी खेद है। परन्तु मैं अपनी परिस्थितियोंके कारण मजबूर था। यदि प्रकाशनका अधिकारी कोई दूसरा होता तो यह ग्रन्थ कभीका बिना प्रस्तावनाके ही प्रकाशित हो जाता। परन्तु प्रस्तावना-लेखक और प्रकाशनका अधिकारी दोनों मैं ही ठहरा, और मैंने इस सानुवाद ग्रन्थको अपनी प्रस्तावनाके बिना प्रकाशित करना उचित नहीं समझा, इसीसे प्रकाशनको इतने विलम्बका मुँह देखना पड़ा है। अस्तु; जब विलम्ब असह्य हो उठा तब जैसे तैसे कुछ समय निकालकर और अपनी शक्तिको इधर-उधरसे बटोरकर मैं प्रस्तावनाके लिखने

में प्रवृत्त हो सका हूँ। प्रस्तावना कैसी लिखी गई और वह ग्रन्थका ठीक परिचय कराने तथा उसकी उपयोगिताको स्पष्ट करनेमें कहाँ तक समर्थ है, इसे तो विज्ञ पाठक ही जान सकेंगे. मैं तो यहाँ पर सिर्फ इतना ही निवेदन कर देना चाहता हूँ कि इस प्रस्तावनाके पीछे शक्तिका जितना व्यय हुआ है और उसके द्वारा जितना वस्तुतत्त्व अथवा प्रमेय पाठकोंके सामने लाया गया है उसे देखते हुए यदि प्रेमी पाठकजन प्रतीक्षाजन्य कष्टको भुला-देंगे और ग्रन्थके महत्वका अनुभव करते हुए यह महसूस करेंगे कि हमने ग्रन्थको परखनेकी कसौटी तथा उसके अन्तः-प्रवेशकी कला आदिके रूपमें कोई नई चीज प्राप्त की है तो मैं अपनेको सफलपरिश्रम और कृतकार्य हुआ समझूँगा और तब मुझे भी इस ग्रन्थके विलम्बसे प्रकाशित होनेका कोई खेद नहीं रहेगा।

आशा है प्रेमी पाठकजन इस अनमोल ग्रन्थरत्नसे स्वयं लाभ उठाते हुए, लोकहितकी दृष्टिसे इसके प्रचार और प्रसार-में अपना पूर्णसहयोग प्रदान करेंगे और इस तरह दूसरोंको भी इससे यथेष्ट लाभ उठानेका पूरा अवसर देनेमें समर्थ होंगे।

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

शुद्धि-विधान

(१) छपनेमें कुछ अशुद्धियां हो गई हैं, जिनका संशोधन निम्न प्रकार है. पाठक पहले ही सुधार लेनेकी कृपा करें :—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	५	अपने	अपनी
,,	४	हाथोंसे	किरणोंसे
,,	१५	देश,	(देश.
,,	१६	जानकर,	जानकर)
५	१४	वर्गअकार	वर्ग-
,,	१५	नामा	अकार नामा
७	५	उग्रप्रं	×
,,	६	जनाः	उग्रप्रं जनाः
१०	७	शतह्रदोन्मेप	शतह्लदोन्मेष
१२	६	द्वयेन	×
,,	७	नैग्रन्थ्य-	द्वयेन नैग्रन्थ्य-
१६	१५	प्रणयनके द्वारा	प्रणयनको लेकर
२२	२०	विजहर्प	विजहर्ष
२४	१	अङ्गगमं	अजङ्गमं
३२	२४	तद्	त्वद्
३६	२४	नित्यात्वादि	नित्यत्वादि
४५	१२	मातृका	मातृका
४७	१७	चीणकादि	चणिकादि
५३	७	५	४
५६	६	देव-चक्रं	देव-चक्रं
५७	५	विकारोंके	विकारोंको

५९	६	विपम	विषय
"	१०	चरस्त्वं	चरंस्त्व-
६०	१४	८८	८५
६३	१३	नृणां	नॄणां
६५	१८	वचारे	वचारे तपस्वी
६८	१३	स्त्वयि-	स्त्वयि
७९	११	जलद-जल	जलज-दल
८०	७	योग्यसे	योगसे
"	८	मण्डपेन	मण्डपेन यं
"	९	यं	×
"	१९	चित्य	चिन्त्य
८४	६	सभाऽसितया	सभाऽऽसितया
"	१५	स्तुवन्ति	×
"	१६	चैनं	स्तुवन्ति चैनं
८५	६	सद्वितय	द्वितय

(२) निम्न पद-वाक्य ब्लैक टाइपमें छपने चाहियें थे. जब कि सादा सफेद टाइपमें छप गये हैं। अतः इनके नीचे ब्लैक टाइपकी सूचक रेखा (लाइन) निम्न प्रकारसे लगा लेनी चाहिये—

१७	२२	जो एकान्त तत्त्व है
२२	१	हे प्रभो! प्रातःकालीन सूर्य-किरणोंकी छविके समान
४२	६-७	क्योंकि आपके आत्मासे वैरभाव—द्वेषांश—बिल्कुल निकल गया है
४३	१९	बाह्य वस्तुकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल आभ्यन्तर कारण भी
"	२०-२१	गुण-दोषकी उत्पत्तिमें समर्थ नहीं है।

प्रस्तावना

ग्रन्थ-नाम

इस ग्रन्थका सुप्रसिद्ध नाम 'स्वयम्भूस्तोत्र' है। 'स्वयम्भू'-शब्दसे यह प्रारम्भ होता है, जिसका तृतीयान्तपद 'स्वयम्भुवा' आदिमें प्रयुक्त हुआ है। प्रारम्भिक शब्दानुसार स्तोत्रोंका नाम रखनेकी परिपाटी बहुत कुछ रूढ है। देवागम, सिद्धिप्रिय, भक्तामर, कल्याणमन्दिर और एकीभाव जैसे स्तोत्र-नाम इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं—ये सब अपने अपने नामके शब्दोंसे ही प्रारम्भ होते हैं। इस तरह प्रारंभिक शब्दकी दृष्टिसे 'स्वयम्भूस्तोत्र' यह नाम जहाँ सुघटित है वहाँ स्तुति-पात्रकी दृष्टिसे भी वह सुघटित है; क्योंकि इसमें स्वयम्भुवोंकी—स्वयम्भू-पदको प्राप्त चतुर्विंशति जैनतीर्थङ्करोंकी—स्तुति की गई है। दूसरोंके उपदेश-बिना ही जो स्वयं मोक्षमार्गको जानकर और उसका अनुष्ठान करके अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप आत्म-विकासको प्राप्त होता है उसे 'स्वयम्भू' कहते हैं[1]। वृषभादिवीर-पर्यन्त चौबीस जैनतीर्थङ्कर ऐसे ही अनन्तचतुष्टयादिरूप आत्म-विकासको प्राप्त हुए हैं, स्वयम्भू-पदके स्वामी हैं और इसलिये

१ "स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गमवबुद्ध्य अनुष्ठाय वाऽनन्त-चतुष्टयतया भवतीति स्वयम्भूः।" —प्रभाचन्द्राचार्यः

उन स्तुतियोंका यह स्तोत्र 'स्वयम्भूस्तोत्र' इस सार्थक संज्ञाको भी प्राप्त है। इसी दृष्टिसे चतुर्विंशति-जिनकी स्तुतिरूप एक दूसरा स्तोत्र भी जो 'स्वयम्भू' शब्दसे प्रारम्भ न होकर 'येन स्वयं बोध-मयेन' जैसे शब्दोंसे प्रारंभ होता है 'स्वयम्भूस्तोत्र' कहलाता है।

ग्रन्थकी अनेक प्रतियोंमें इस ग्रन्थका दूसरा नाम 'समन्तभद्र-स्तोत्र' भी पाया जाता है। अकेले जैन-सिद्धान्त-भवन आरामें ऐसी कई प्रतियाँ हैं, दूसरे भी शास्त्रभंडारोंमें ऐसी प्रतियाँ पाई जाती हैं। जिस समय सूचियों परसे 'समन्तभद्रस्तोत्र' यह नाम मेरे सामने आया तो मुझे उसी वक्त यह खयाल उत्पन्न हुआ कि यह ग़ालबन समन्तभद्रकी स्तुतिमें लिखा गया कोई ग्रन्थ है और इसलिये उसे देखनेकी इच्छा तीव्र हो उठी। मँगानेके लिये लिखा पढ़ी करने पर मालूम हुआ कि यह समन्तभद्रका स्वयम्भू-स्तोत्र ही है—दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं, और इसलिये 'समन्तभद्र-स्तोत्र' को समन्तभद्र-कृत स्तोत्र माननेके लिये बाध्य होना पड़ा। ऐसा माननेमें स्तोत्रका कोई मूल विशेषण नहीं रहता। परन्तु समन्तभद्रकृत स्तोत्र तो और भी हैं उनमेंसे किसीको 'समन्त-भद्रस्तोत्र' क्यों नहीं लिखा और इसीको क्यों लिखा ? इसमें लेखकोंकी गलती है या अन्य कुछ, यह बात विचारणीय है। इस सम्बन्धमें यहाँ एक बात प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि स्वामी समन्तभद्रके ग्रन्थ प्रायः दो नामोंको लिये हुए हैं; जैसे देवागमका दूसरा नाम 'आप्तमीमांसा', स्तुतिविद्याका दूसरा नाम 'जिनशतक' और समीचीनधर्मशास्त्रका दूसरा नाम 'रत्नकरण्ड' है। इनमेंसे पहला पहला नाम ग्रन्थके प्रारम्भमें और दूसरा दूसरा नाम ग्रन्थके अन्तिम भागमें सूचित किया गया है। युक्त्य-नुशासन ग्रन्थके भी दो नाम हैं—दूसरा नाम 'वीरजिनस्तोत्र' है, जिसकी सूचना आदि और अन्तके दोनों पद्योंमें की गई है। ऐसी

स्थितिमें बहुत संभव है कि स्वयम्भूस्तोत्रके अन्तिम पद्यमें जो 'समन्तभद्रं' पद प्रयुक्त हुआ है उसके द्वारा स्वयम्भूस्तोत्रका दूसरा नाम 'समन्तभद्रस्तोत्र' सूचित किया गया हो। 'समन्तभद्रं' पद वहाँ वीरजिनेन्द्रके मत-शासनके विशेषणरूपमें स्थित है और उसका अर्थ है 'सब ओरसे भद्ररूप—यथार्थता, निर्बाधता और परहित-प्रतिपादनतादिगुणोंकी शोभासे सम्पन्न एवं जगतके लिये कल्याणकारी'। यह स्तोत्र वीरके शासनका प्रतिनिधित्व करता है—उसके स्वरूपका निदर्शक है—और सब ओरसे भद्ररूप है अतः इसका 'समन्तभद्रस्तोत्र' यह नाम भी सार्थक जान पड़ता है, जो 'समन्तात् भद्रं' इस पदच्छेदकी दृष्टिको लिये हुए है और उसमें श्लेषालङ्कारसे ग्रन्थकारका नाम भी उसी तरह समाविष्ट हो जाता है जिस तरह कि वह उक्त 'समन्तभद्रं' पदमें संनिहित है। और इसलिये इस द्वितीय नामोल्लेखनमें लेखकोंकी कोई कर्तृत या गलती प्रतीत नहीं होती। यह नाम भी प्रायः पहलेसे ही इस ग्रन्थको दिया हुआ जान पड़ता है।

ग्रन्थका सामान्य परिचय और महत्व

स्वामी समन्तभद्रकी यह 'स्वयम्भूस्तोत्र' कृति समन्तभद्र-भारतीका एक प्रमुख अंग है और बड़ी ही हृदय-हारिणी एवं अपूर्व रचना है। कहनेके लिये यह एक स्तोत्रग्रन्थ है—स्तोत्रकी पद्धतिको लिये हुए है और इसमें वृषभादि चौबीस जिनदेवोंकी स्तुति की गई है; परन्तु यह कोरा स्तोत्र नहीं, इसमें स्तुतिके बहाने जैनागमका सार एवं तत्त्वज्ञान कूट कूट कर भरा हुआ है। इसीसे टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्रने इसे 'निःशेष-जिनोक्त-धर्म-विषयः' ऐसा विशेषण दिया है और 'स्तवोऽयमसमः' पदोंके द्वारा इसे अपना सानी (जोडा) न रखनेवाला अद्वितीय स्तवन प्रकट किया है। साथ ही इसके पदोंको 'सूक्तार्थ', 'अमल', 'स्वल्प'

और 'प्रसन्न' विशेषण देकर यह बतलाया है कि 'वे सूक्तरूपमें ठीक अर्थका प्रतिपादन करने वाले हैं, निर्दोष हैं, अल्पाक्षर हैं और प्रसादगुण-विशिष्ट हैं'[1]। सचमुच इस स्तोत्रका एक एक पद प्रायः बीजपद-जैसा सूत्रवाक्य है, और इसलिये इसे 'जैनमार्ग-प्रदीप' ही नहीं किन्तु एक प्रकारसे 'जैनागम' कहना चाहिये। आगम (श्रुति) रूपसे इसके वाक्योंका उल्लेख मिलता भी है[2]। इतना ही नहीं, स्वयं ग्रन्थकारमहोदयने 'त्वयि वरदाऽऽगमदृष्टि-रूपतः गुणकृशमपि किञ्चनोदितं' (१०५) इस वाक्यके द्वारा ग्रन्थके कथनको आगमदृष्टिके अनुरूप बतलाया है। इसके सिवाय, अपने दूसरे ग्रन्थ युक्त्यनुशासनमें 'दृष्टाऽऽगमाभ्याम-विरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते' इस वाक्यके द्वारा युक्त्य-नुशासन (युक्तिवचन) का लक्षण व्यक्त करते हुए यह बतलाया है कि 'प्रत्यक्ष और आगमसे अविरोधरूप—अबाधित-विषय-स्वरूप—अर्थका जो अर्थसे प्ररूपण है—अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण

१ "सूक्तार्थैरमलैः स्तवोऽयमसमः स्वल्पैः प्रसन्नैः पदैः।"

२ जैसा कि कवि वाग्भटके काव्यानुशासनमें और जटासिंहनन्दी आचार्यके वरांगचरितमें पाये जानेवाले निम्न उल्लेखोंसे प्रकट है—

(क) आगम आप्तवचनं यथा—

'प्रजापतिर्यः प्रति(थ)मं जिजीविषूः शशास कृष्यादिसु कर्मसु प्रजाः।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः॥" [स्व० २]
—काव्यानुशासन

(ख) अनेकान्तोऽपि चैकान्तः स्यादित्येवं वदेत्परः।
"अनेकान्तोऽप्यनेकान्त" [स्व० १०३]इति जैनी श्रुतिः स्मृता॥
—वरांगचरित

इस पद्यमें स्वयम्भूस्तोत्रके "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः" इस वाक्य-को उद्धृत करते हुए, उसे 'जैनी श्रुतिः' अर्थात् जैनागमका वाक्य बतलाया है।

साधनरूप अर्थसे साध्यरूप अर्थका प्रतिपादन है—उसे 'युक्त्य-नुशासन' कहते हैं और वही (हे वीरभगवन्!) आपको अभिमत है'। इससे साफ जाना जाता है कि स्वयम्भूस्तोत्रमें जो कुछ युक्तिवाद है और उसके द्वारा अर्थका जो प्ररूपण किया गया है वह सब प्रत्यक्षाऽविरोधके साथ साथ आगमके भी अविरोधको लिए हुए है अर्थात् जैनागमके अनुकूल है। जैनागमके अनुकूल होनेसे आगमकी प्रतिष्ठाको प्राप्त है। और इस तरह यह ग्रन्थ आगमके—आप्तवचनके—तुल्य मान्यताकी कोटिमें स्थित है। वस्तुतः समन्तभद्र महान्के वचनोंका ऐसा ही महत्व है। इसीसे उनके 'जीवसिद्धि' और 'युक्त्यनुशासन' जैसे कुछ ग्रन्थोंका नामोउल्लेख साथमें करते हुए विक्रमकी ९ वीं शताब्दीके आचार्य जिनसेनने अपने हरिवंशपुराणमें समन्तभद्रके वचनको श्रीवीरभगवान्के वचन (आगम) के समान प्रकाशमान एवं प्रभावादिकसे युक्त बतलाया है[1]। और ७ वीं शताब्दीके अकलंकदेव-जैसे महान् विद्वान् आचार्यने देवागमका भाष्य लिखते समय, यह स्पष्ट घोषित किया है कि समन्तभद्रके वचनोंसे उस स्याद्वादरूपी पुण्योदधितीर्थका प्रभाव कलिकालमें भी भव्यजीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेके लिए सर्वत्र व्याप्त हुआ है, जो सर्व पदार्थों और तत्त्वोंको अपना विषय किये हुए है[2]। इसके सिवाय,

१ जीवसिद्धि-विधायीह कृत-युक्त्यनुशासनं ।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥—हरिवंशपुराण

२ तीर्थं सर्वपदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
र्भव्यानामकलंकभावकृतये प्राभावि काले कलौ ।
येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः ॥
—अष्टशती

समन्तभद्रभारतीके स्तोता कवि नागराजने सारी ही समन्तभद्र-वाणीके लिए 'वर्द्धमानदेव-बोध-बुद्ध-चिद्विलासिनी' और 'इन्द्र-भूति-भाषित-प्रमेयजाल-गोचरा' जैसे विशेषणोंका प्रयोग करके यह सूचित किया है कि समन्तभद्रकी वाणी श्रीवर्द्धमानदेवके बोधसे प्रबुद्ध हुए चैतन्यके विलासको लिए हुए है और उसका विषय वह सारा पदार्थसमूह है जो इन्द्रभूति (गौतम) गणधर-के द्वारा प्रभाषित हुआ है—द्वादशांगश्रुतके रूपमें गूंथा गया है। अस्तु।

इस ग्रन्थमें भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोगकी जो निर्मल गंगा अथवा त्रिवेणी बहाई है उसमें अवगाहन-स्नान किए ही बनता है और उस अवगाहनसे जो शान्ति-सुख मिलता अथवा ज्ञानानन्दका लाभ होता है उसका कुछ पार नहीं—वह प्रायः अनिर्वचनीय है। इन तीनों योगोंका अलग अलग विशेष परिचय आगे कराया जायगा।

इस स्तोत्रमें २४ स्तवन हैं और वे भरतक्षेत्र-सम्बन्धी वर्त-मान अवसर्पिणीकालमें अवतीर्ण हुए २४ जैन तीर्थङ्करोंकी अलग अलग स्तुतिको लिये हुए हैं। स्तुति-पद्योंकी संख्या सब स्तवनोंमें समान नहीं है। १८वें स्तवनकी पद्य-संख्या २०, २२वें की १० और २४वेंकी आठ है, जब कि शेष २१ स्तवनोंमेंसे प्रत्येक की पद्यसंख्या पांच पांचके रूपमें समान है। और इस तरह ग्रन्थ-के पद्योंकी कुल संख्या १४३ है। ये सब पद्य अथवा स्तवन एक ही छन्दमें नहीं किन्तु भिन्न भिन्न रूपसे तेरह प्रकारके छन्दों-में निर्मित हुए हैं, जिनके नाम हैं—वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, रथोद्धता, वसन्ततिलका, पथ्यावक्त्र अनुष्टुप्, सुभद्रा-मालती-मिश्र-यमक, वानवासिका, वैतालीय, शिखरणी, उद्गता, आर्यागीति (स्कन्धक)। कहीं कहीं एक स्तवनमें एकसे अधिक

छन्दोंका भी प्रयोग किया गया है। किस स्तवनका कौनसा पद्य किस छन्दमें रचा गया है और उस छन्दका क्या लक्षण है, इसकी सूचना 'स्तवन-छन्द-सूची' नामके एक परिशिष्टमें कर दी गई है, जिससे पाठकोंको इस ग्रन्थके छन्द-विषयका ठीक परिज्ञान हो सके।

स्तवनोंमें स्तुतिगोचर-तीर्थङ्करोंके जो नाम दिये हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं :—

१ वृषभ, २ अजित, ३ शम्भव, ४ अभिनन्दन, ५ सुमति, ६ पद्मप्रभ, ७ सुपार्श्व, ८ चन्द्रप्रभ, ९ सुविधि, १० शीतल, ११ श्रेयांस, १२ वासुपूज्य, १३ विमल, १४ अनन्तजित्, १५ धर्म, १६ शान्ति, १७ कुन्थु, १८ अर, १९ मल्लि, २० मुनिसुव्रत, २१ नमि, २२ अरिष्टनेमि, २३ पार्श्व, २४ वीर।

[इनमेंसे वृषभको इक्ष्वाकु-कुलका आदिपुरुष, अरिष्टनेमिको हरिवंशकेतु और पार्श्वको उग्रकुलाम्बरचन्द्र बतलाया है। शेष तीर्थङ्करोंके कुलका कोई उल्लेख नहीं किया गया है।]

उक्त सब नाम अन्वर्थ-सञ्ज्ञक हैं—नामानुकूल अर्थविशेषको लिये हुए हैं। इनमेंसे जिनकी अन्वर्थसंज्ञकता अथवा सार्थकताको स्तोत्रमें किसी-न-किसी तरह प्रकट किया गया है वे क्रमशः नं० २, ४, ५, ६, ८, १०, ११, १४, १५, १६, १७, २० पर स्थित हैं। शेषमेंसे कितने ही नामोंकी अन्वर्थताको अनुवादमें व्यक्त किया गया है।

स्तुत तीर्थङ्करोंका परिचय

इन तीर्थङ्करोंके स्तवनोंमें गुणकीर्तनादिके साथ कुछ ऐसी वातों अथवा घटनाओंका भी उल्लेख मिलता है जो इतिहास तथा पुराणसे सम्बन्ध रखती हैं और स्वामी समन्तभद्रकी लेखनीसे उल्लेखित होनेके कारण जिनका अपना विशेष महत्व है और

इसलिए उनकी प्रधानताको लिये हुए यहां इन स्तवनोंमेंसे स्तुत तीर्थङ्करोंका परिचय क्रमसे दिया जाता है :—

(१) वृषभजिन नाभिनन्दन (नाभिरायके पुत्र) थे, इक्ष्वाकुकुलके आदिपुरुष थे और प्रथम प्रजापति थे। उन्होंने सबसे पहले प्रजाजनोंको कृष्यादि-कर्मोंमें सुशिक्षित किया था (उनसे पहले यहां भोगभूमिकी प्रवृत्ति होनेसे लोग खेती-व्यापारादि करना अथवा असि, मसि, कृषि, विद्या,वाणिज्य और शिल्प इन जीवनोपायरूप षट् कर्मोंको नहीं जानते थे), मुमुक्षु होकर और ममता छोड़कर वधू तथा वसुधाका त्याग करते हुए दीक्षा धारण की थी, अपने दोषोंके मूलकारण (घातिकर्मचतुष्क) को अपने ही समाधितेज-द्वारा भस्म किया था (फलतः विश्वचक्षुता एवं सर्वज्ञताको प्राप्त किया था) और जगतको तत्त्वका उपदेश दिया था। वे सत्पुरुषोंसे पूजित होकर अन्तको ब्रह्मपदरूप अमृतके स्वामी बने थे और निरंजन पदको प्राप्त हुए थे।

(२) अजितजिन देवलोकसे अवतरित हुए थे, अवतारके समयसे उनका बंधुवर्ग पृथ्वीपर अजेयशक्ति बना था और उस बन्धुवर्गने उनका नाम 'अजित' रक्खा था। आज भी (लाखों वर्ष बीत जानेपर) उनका नाम स्वसिद्धिकी कामना रखनेवालोंके द्वारा मंगलके लिये लिया जाता है। वे महामुनि बनकर तथा घनोपदेहसे (घातिया कर्मोंके आवरणादिरूप दृढ उपलेपसे) मुक्त होकर भव्यजीवोंके हृदयोंमें संलग्न हुए कलंकों (अज्ञानादिदोषों तथा उनके कारणों) की शांतिके लिये अपनी समर्थ-वचनादि-शक्तिकी सम्पत्तिके साथ उसी प्रकार उदयको प्राप्त हुए थे जिस प्रकार कि मेघोंके आवरणसे मुक्त हुआ सूर्य कमलोंके अभ्युदयके लिये—उनके अन्तः अन्धकारको दूर कर उन्हें विकसित करनेके लिये—अपनी प्रकाशमय समर्थशक्ति-सम्पत्तिके साथ

प्रकट होता है। और उन्होंने उस महान एवं ज्येष्ठ धर्मतीर्थका प्रणयन किया था जिसे प्राप्त होकर लौकिक जन दुःखपर विजय प्राप्त करते हैं।

(३) शम्भव-जिन इस लोकमें तृष्णा रोगोंसे संतप्त जनसमूहके लिये एक आकस्मिक वैद्यके रूपमें अवतीर्ण हुए थे और उन्होंने दोष-दूषित एवं प्रपीड़ित जगतको अपने उपदेशों-द्वारा निरंजना शांतिकी प्राप्ति कराई थी। आपके उपदेशका कुछ नमूना दो एक पद्योंमें दिया है और फिर लिखा है कि 'उन पुण्यकीर्तिकी स्तुति करनेमें शक्र (इन्द्र) भी असमर्थ रहा है'।

(४) अभिनन्दन-जिनने (लौकिक वधूका त्याग कर) उस दया-वधूको अपने आश्रयमें लिया था जिसकी सखी क्षमा थी और समाधिकी सिद्धिके लिए बाह्याऽभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग कर निर्ग्रन्थताको धारण किया था। साथ ही, मिथ्याभिनिवेशके वशसे नष्ट होते हुए जगतको हितका उपदेश देकर तत्त्वका ग्रहण कराया था। हितका जो उपदेश दिया गया था उसका कुछ नमूना ३-४ पद्योंमें व्यक्त किया गया है।

(५) सुमति-जिनने जिस सुयुक्ति-नीत तत्त्वका प्रणयन किया है उसीका सुन्दर सार इस स्तवनमें दिया गया है।

(६) पद्मप्रभ--जिन पद्मपत्रके समान रक्तवर्णाभ शरीरके धारक थे। उनके शरीरकी किरणोंके प्रसारने नरों और अमरोंसे पूर्ण सभाको व्याप्त किया था—सारी समवसरणसभामें उनके शरीरकी आभा फैली हुई थी। प्रजाजनोंकी विभूतिके लिये—उनमें हेयोपादेयके विवेकको जागृत करनेके लिये—उन्होंने भूतलपर विहार किया था और विहारके समय (इन्द्रादिरचित) सहस्रदल-कमलोंके मध्यभागपर चलते हुए अपने चरण-कमलों-द्वारा नभ-स्तलको पल्लवमय बना दिया था। उनकी स्तुतिमें इन्द्र असमर्थ रहा है।

(७) सुपार्श्व-जिन सर्वतत्त्वके प्रमाता (ज्ञाता) और माता की तरह लोकहितके अनुशास्ता थे। उन्होंने हितकी जो बातें कही हैं उन्हींका सार इस स्तवनमें दिया गया है।

(८) चन्द्रप्रभ-जिन चन्द्रकिरण-सम-गौरवर्ण थे. द्वितीय चन्द्रमाकी समान दीप्तिमान थे। उनके शरीरके दिव्य प्रभा-मण्डलसे बाह्य अन्धकार और ध्यान-प्रदीपके अतिशयसे मानस अन्धकार दूर हुआ था। उनके प्रवचनरूप सिंहनादोंको सुनकर अपने पक्षकी सुस्थितिका घमण्ड रखने वाले प्रवादि-जन निर्मद हो जाते थे। और वे लोकमें परमेष्ठिके पदको प्राप्त हुए हैं।

(९) सुविधि-जिन जगदीश्वरों (इन्द्रचक्रवर्त्यादिकों) के द्वारा अभिवन्द्य थे। उन्होंने जिस अनेकान्तशासनका प्रणयन किया है उसका सार पांचों पद्योंमें दिया है।

(१०) शीतल-जिनने अपने सुखाभिलाषारूप अग्निके दाहसे मूर्छित हुए मनको कैसे मूर्छा रहित किया और कैसे वे दिन-रात आत्मविशुद्धिके मार्गमें जागृत रहते थे. इन बातोंको बतलानेके बाद उनके तपस्याके उद्देश्य और व्यक्तित्वकी दूसरे तपस्वियों आदिसे तुलना करते हुए लिखा है कि 'इसीसे वे बुधजनश्रेष्ठ आपकी उपासना करते हैं जो अपने आत्मकल्याणकी भावनामें तत्पर हैं।

(११) श्रेयो जिनने प्रजाजनोंको श्रेयोमार्गमें अनुशासित किया था। उनके अनेकान्त-शासनकी कुछ बातोंका उल्लेख करनेके बाद लिखाहै कि 'वे कैवल्य-विभूतिके सम्राट् हुए हैं'।

(१२) वासुपूज्य-जिन अभ्युदय क्रियाओंके समय पूजाको प्राप्त हुए थे. त्रिदशेन्द्र-पूज्य थे और किसीकी पूजा या निन्दासे कोई प्रयोजन नहीं रखते थे। उनके शासनकी कुछ बातोंका

उल्लेख करके उनके बुधजन-अभिवन्द्य होनेकी सार्थकताका द्योतन किया गया है।

(१३) विमल-जिनका शासन किस प्रकारसे नयोंकी विशेषताको लिये हुए था उसका कुछ दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि 'इसीसे वे अपना हित चाहने वालोंके द्वारा वन्दित थे'।

(१४) अनन्तजिन्-जिनने अपने अनन्तदोषाशय-विग्रहरूप 'मोह' को, कषाय नामके पीडनशील-शत्रुओंको, विशोषक कामदेव-के दुरभिमानरूप आतंकको कैसे जीता और अपनी तृष्णानदी-को कैसे सुखाया, इत्यादि बातोंका इस स्तवनमें उल्लेख है।

(१५) धर्म-जिन अनवद्य-धर्मतीर्थका प्रवर्तन करते हुए सत्पुरुषोंके द्वारा 'धर्म' इस सार्थक संज्ञाको लिये हुए माने गए हैं। उन्होंने तपरूप अग्नियोंसे अपने कर्मवनको दहन करके शाश्वत सुख प्राप्त किया है और इसलिये वे 'शङ्कर' हैं। वे देवों तथा मनुष्योंके उत्तम समूहोंसे परिवेष्टित तथा गणधरादि बुध-जनोंसे परिचारित (सेवित) हुए (समवसरण-सभामें) उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए थे जिस प्रकार कि आकाशमें तारकाओं-से परिवृत निर्मल चन्द्रमा। प्रातिहार्यों और विभवोंसे विभूषित होते हुए भी वे उन्हींसे नहीं, किन्तु देहसे भी विरक्त रहे हैं। उन्होंने मनुष्यों तथा देवोंको मोक्षमार्ग सिखलाया, परन्तु शासन-फलकी एषणासे वे कभी आतुर नहीं हुए। उनके मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियां इच्छाके विना होते हुए भी असमीक्ष्य नहीं होती थीं। वे मानुषी प्रकृतिका उल्लंघन कर गये थे, देवताओंके भी देवता थे और इसीसे 'परमदेवता'के पदको प्राप्त थे।

(१६) शान्ति-जिन शत्रुओंसे प्रजाकी रक्षा करके अप्रतिम प्रतापके धारी राजा हुए थे और भयंकर चक्रसे सर्वनरेन्द्र-समूह-को जीतकर चक्रवर्ती राजा बने थे। उन्होंने समाधिचक्रसे दुर्जय

मोहचक्रको—मोहनीय कर्मके मूलोत्तर-प्रकृति-प्रपंचको—जीता था और उसे जीतकर वे महान् उदयको प्राप्त हुए थे, आर्हन्त्य-लक्ष्मीसे युक्त होकर देवों तथा असुरोंकी महती (समवरण) सभामें सुशोभित हुए थे। उनके चक्रवर्ती राजा होनेपर राज-चक्र, मुनि होनेपर दया-दीधिति-धर्मचक्र, पूज्य (तीर्थ-प्रवर्तक) होने पर देवचक्र प्राञ्जलि हुआ—हाथ जोड़े खड़ा रहा अथवा स्वाधीन बना—और ध्यानोन्मुख होनेपर कृतान्तचक्र—कर्मोंका अवशिष्टसमूह—नाशको प्राप्त हुआ था।

(१७) कुन्थु-जिन कुन्थ्वादि सकल प्राणियोंपर दयाके अनन्य विस्तारको लिये हुए थे। उन्होंने पहले चक्रवर्ती राजा होकर पश्चात् धर्मचक्रका प्रवर्तन किया था, जिसका लक्ष्य लौकिकजनोंके ज्वर-जरा-मरणकी उपशान्ति और उन्हें आत्मविभूतिकी प्राप्ति कराना था। वे विषय-सौख्यसे पराङ्मुख कैसे हुए, परमदुश्चर बाह्यतपका आचरण उन्होंने किस लिये किया, कौनसे ध्यानोंको अपनाया और कौनसी सातिशय अग्निमें अपने (घातिया) कर्मोंकी चार प्रकृतियोंको भस्म करके वे शक्तिसम्पन्न हुए और सकल-वेद-विधिके प्रणेता बने, इन सब बातोंको इस स्तवनमें बतलाया गया है। साथ ही, यह भी बतलाया गया है कि लोकके जो पितामहादिक प्रसिद्ध हैं वे आपकी विद्या और विभूतिकी एक कणिकाको भी प्राप्त नहीं हुए हैं, और इसलिए आत्महित-की धुनमें लगे हुए श्रेष्ठ सुधीजन (गणधरादिक) उन अद्वितीय स्तुत्यकी स्तुति करते हैं।

(१८) अर-जिन चक्रवर्ती थे, मुमुक्षु होनेपर चक्रवर्तीका सारा साम्राज्य उनके लिए जीर्ण तृणके समान हो गया और इसलिये उन्होंने निःसार समझकर उसे त्याग दिया। उनके रूप-सौन्दर्य-को देखकर द्विनेत्र इन्द्र तृप्त न हो सका और इसलिए (विक्रिया-

ऋद्धिसे) सहस्रनेत्र बनकर देखने लगा और बहुत ही विस्मयको प्राप्त हुआ। उन्होंने कषाय-भटोंकी सेनासे सम्पन्न पापी मोह-शत्रुको दृष्टि, संविद् और उपेक्षा रूप अस्त्रोंसे पराजित किया था और अपनी तृष्णानदीको विद्या नौकासे पार किया था। उनके सामने कामदेव लज्जित तथा हतप्रभ हुआ था और जगतको रुलानेवाले अन्तकको अपना स्वेच्छ व्यवहार बन्द करना पड़ा था और इस तरह वह भी पराजित हुआ था। उनका रूप आभूषणों, वेषों तथा आयुधोंका त्यागी और विद्या, कषायेन्द्रिय-जय तथा दया की उत्कृष्टताको लिये हुए था। उनके शरीरके बृहत् प्रभामण्डलसे बाह्य अन्धकार और ध्यानतेजसे आध्यात्मिक अन्धकार दूर हुआ था। समवरणसभामें व्याप्त होनेवाला उनका वचनामृत सर्वभाषाओंमें परिणत होनेके स्वभावको लिये हुए था तथा प्राणियोंको तृप्ति प्रदान करनेवाला था। उनकी दृष्टि अनेकान्तात्मक थी। उस सती दृष्टिके महत्वादिका ख्यापन तथा उनके स्याद्वादशासनादिका कुछ विशेष कथन सात कारिकाओंमें किया गया है।

(१९) मल्लि-जिनको जब सकल पदार्थोंका साक्षात् प्रत्यवबोध (केवलज्ञान) हुआ था तब देवों तथा मर्त्यजनोंके साथ सारे ही जगत्ने हाथ जोड़कर उन्हें नमस्कार किया था। उनकी शरीरा-कृति सुवर्ण-निर्मित-जैसी थी और स्फुरित आभासे परिमण्डल किये हुए थी। वाणी भी यथार्थ वस्तुतत्त्वका कथन करनेवाली और साधुजनोंको रमानेवाली थी। जिनके सामने गलितमान हुए प्रतितीर्थिजन (एकान्तवादमतानुयायी) पृथ्वीपर कहीं विवाद नहीं करते थे और पृथ्वी भी (उनके विहारके समय) पद-पदपर विकसित कमलोंसे मृदु-हासको लिये हुए रमणीय हुई थी। उन्हें सब ओर से (प्रचुरपरिमाणमें) शिष्य साधुओं-

का विभव (ऐश्वर्य) प्राप्त हुआ था और उनका तीर्थ (शासन) भी संसार-समुद्रसे भयभीत प्राणियोंको पार उतारनेके लिए प्रधान मार्ग बना था।

(२०) मुनिसुव्रत-जिन मुनियोंकी परिषद्में—गणधरादिक ज्ञानियोंकी महती सभा (समवसरण) में—उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार कि नक्षत्रोंके समूहसे परिवेष्टित चन्द्रमा शोभाको प्राप्त होता है। उनका शरीर तपसे उत्पन्न हुई तरुण मोरके कण्ठवर्ण-जैसी आभासे उसी प्रकार शोभित था जिस प्रकार कि चन्द्रमाके परिमण्डलकी दीप्ति शोभती है। साथ ही. वह चन्द्रमाकी दीप्तिके समान निर्मल शुक्ल रुधिरसे युक्त. अति सुगंधित, रजरहित, शिवस्वरूप (स्व-पर कल्याणमय) तथा अति आश्चर्यको लिये हुए था। उनका यह वचन कि 'चर और अचर जगत् प्रतिक्षण स्थिति-जनन-निरोध-लक्षणको लिये हुए है'—प्रत्येक समयमें ध्रौव्य. उत्पाद और व्यय (विनाश)स्वरूप है—सर्वज्ञताका द्योतक है। वे अनुपम योगबलसे पापमलरूप आठों कलंकोंको (ज्ञानावरणादि कर्मोंको) भस्मीभूत करके संसारमें न पाये जानेवाले सौख्यको—परम अतीन्द्रिय मोक्ष-सौख्यको—प्राप्त हुए थे।

(२१) नमि-जिनमें विभवकिरणोंके साथ केवलज्ञान-ज्योतिके प्रकाशित होनेपर अन्यमती—एकान्तवादी—जन उसी प्रकार हतप्रभ हुए थे जिस प्रकार कि निर्मल सूर्यके सामने खद्योत (जुगनू) होते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तात्मक तत्त्व का गंभीर रूप एक ही कारिका विधेयं वार्यं इत्यादिमें इतने अच्छे ढंगसे सूत्ररूपमें दिया है कि उसपर हजारों-लाखों श्लोकों की व्याख्या लिखी जा सकती है। उन्होंने परम करुणाभावसे सम्पन्न होकर अहिंसा-परमब्रह्मकी सिद्धिके लिये

बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहका परित्याग कर उस आश्रम-विधिको ग्रहण किया था जिसमें अणुमात्र भी आरम्भ नहीं है. क्योंकि जहां अणुमात्र भी आरम्भ होता है वहां अहिंसाका वास नहीं अथवा पूर्णतः वास नहीं बनता। जो साधु यथाजात-लिङ्गके विरोधी विकृत वेषों और उपाधियोंमें रत हैं. उन्होंने वस्तुतः बाह्याभ्यन्तर परिग्रहको नहीं छोड़ा है—और इसलिये ऐसोंसे उस परमब्रह्मकी सिद्धि भी नहीं बन सकती। उनका आभूषण वेष, तथा व्यवधान (वस्त्र-आवरणादि) से रहित और इन्द्रियोंकी शान्तताको लिये हुए (नग्न दिगम्बर) शरीर काम. क्रोध और मोह पर विजय का सूचक था।

(२२) अरिष्टनेमि-जिनने परमयोगाग्निसे कल्मषेन्धनको—ज्ञाना-वरणादिरूप कर्मकाष्ठको—भस्म किया था और सकल पदार्थोंको जाना था। वे हरिवंशकेतु थे. विकसित कमलदलके समान दीर्घनेत्रके धारक थे. और निर्दोष विनय तथा दमतीर्थके नायक हुए हैं। उनके चरणयुगल त्रिदशेन्द्र-वन्दित थे। उनके चरणयुगलको दोनों लोकनायकों गरुड़ध्वज (नारायण) और हलधर (बलभद्र) ने, जो स्वजनभक्तिसे मुदितहृदय थे और धर्म तथा विनयके रसिक थे, बन्धुजनोंके साथ बार-बार प्रणाम किया है। गरुडध्वजका दीप्तिमण्डल द्युतिमद्रथांग (सुदर्शनचक्र) रूप रविबिम्बकी किरणोंसे जटिल था और शरीर नीले कमलदलों-की राशिके अथवा सजलमेघके समान श्यामवर्ण था। इन्द्र-द्वारा लिखे गये नेमिजिनके लक्षणों (चिन्हों) को वह लोकप्रसिद्ध ऊर्जयन्तगिरि (गिरनार पर्वत) धारण करता है जो पृथ्वीका ककुद है. विद्याधरोंकी स्त्रियोंसे सेवित-शिखरोंसे अलंकृत है, मेघपटलोंसे व्याप्त तटोंको लिये हुए है, तीर्थस्थान है और आज भी भक्तिसे उल्लसितचित्त-ऋषियोंके द्वारा सब ओरसे निरन्तर

अतिसेवितहैं। उन्होंने इस अखिल विश्वको सदा करतलस्थित स्फटिकमणिके समान युगपत् जाना था और उनके इस जाननेमें बाह्यकरण-चक्षुरादिक और अन्तःकरण-मन ये अलग-अलग तथा दोनों मिलकर भी न तो कोई बाधा उत्पन्न करते थे और न किसी प्रकारका उपकार ही सम्पन्न करते थे।

(२३) पार्श्व-जिन महामना थे, वे वैरीके वशवर्ती--कमठशत्रुके इशारे पर नाचने वाले—उन भयङ्कर मेघोंसे उपद्रवित होनेपर भी अपने योगसे (शुक्लध्यानसे) चलायमान नहीं हुए थे, जो नीले-श्यामवर्णके धारक, इन्द्रधनुष तथा विद्युद्-गुणोंसे युक्त और भयङ्कर वज्र, वायु तथा वर्षाको चारों तरफ बखेरनेवाले थे। इस उपसर्गके समय धरण नागने उन्हें अपने बृहत्फणाओंके मण्डलरूप मण्डपसे वेष्टित किया था और वे अपने योगरूप खड्गकी तीक्ष्ण धारसे दुर्जय मोहशत्रुको जीतकर उस आर्हन्त्य-पदको प्राप्त हुए थे जो अचिन्त्य है, अद्भुत है और त्रिलोककी सातिशय-पूजाका स्थान है। उन्हें विधूतकल्मष (घातिकर्म-चतुष्टयरूप पापमलसे रहित), शमोपदेशक (मोक्षमार्गके उपदेष्टा) और ईश्वर (सकल-लोकप्रभु) के रूपमें देख कर वे वनवासी तपस्वी भी शरणमें प्राप्त हुए थे जो अपने श्रमको—पंचाग्नि साधनादिरूप प्रयासको—विफल समझ गए थे और भगवान पार्श्व-जैसे विधूतकल्मष ईश्वर होनेकी इच्छा रखते थे। पार्श्वप्रभु समग्रबुद्धि थे, सच्ची विद्याओं तथा तपस्याओंके प्रणेता थे, उग्रकुलरूप आकाशके चन्द्रमा थे और उन्होंने मिथ्यामार्गोंकी दृष्टियोंसे उत्पन्न होने वाले विभ्रमोंको विनष्ट किया था।

(२४) वीर-जिन अपनी गुणसमुत्थ-निर्मलकीर्ति अथवा दिव्यवाणीसे पृथ्वी (समवसरणभूमि) पर उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए थे जिस प्रकार कि चन्द्रमा आकाशमें नक्षत्र-सभास्थित

उस प्रभासे शोभता है जो सब ओरसे धवल है। उनका शासन-विभव कलिकाल में भी जयको प्राप्त है और उसकी वे निर्दोष साधु (गणधरादिकदेव) भी स्तुति करते हैं जिन्होंने अपने ज्ञानादि-तेजसे आसन-विभुओंको—लोकके प्रसिद्ध नायकोंको—निस्तेज किया है। उनका स्याद्वादरूप प्रवचन दृष्ट और इष्टके साथ विरोध न रखनेके कारण निर्दोष है, जब कि दूसरोंका—अस्याद्वादियोंका—प्रवचन उभय विरोधको लिये हुए होनेसे वैसा नहीं है। वे सुर-असुरोंसे पूजित होते हुए भी ग्रन्थिक सत्वोंके—मिथ्यात्वादि परिग्रहसे युक्त प्राणियोंके—(अभक्त) हृदयसे प्राप्त होनेवाले प्रणामोंसे पूजित नहीं हैं। और अनावरणज्योति होकर उस धामको—मुक्तिस्थान अथवा सिद्धशिलाको—प्राप्त हुए हैं जो अनावरण-ज्योतियोंसे प्रकाशमान है। वे उस गुण-भूषणको—सर्वज्ञ-वीतरागतादि गुणरूप आभूषण-समूहको—धारण किए हुए थे जो सभ्यजनों अथवा समवसरण-सभास्थित भव्यजनोंको रुचिकर था और श्रीसे—अष्टप्रातिहार्यादिरूप-विभूतिसे—ऐसे रूपमें पुष्ट था जिससे उसकी शोभा और भी बढ़ गई थी। साथही, उनके शरीरका सौन्दर्य और आकर्षण पूर्णचन्द्रमासे भी बढ़ा चढ़ा था। उन्होंने निष्कपट यम और दम-का—महाव्रतादिके अनुष्ठान और कषायों तथा इन्द्रियोंके जयका—उपदेश दिया है। उनका उदार विहार उस महाशक्ति-सम्पन्न गजराजके समान हुआ है जो झरते हुए मदका दान देते हुए और मार्गमें बाधक गिरिभित्तियोंका विदारण करते हुए (फलतः जो बाधक नहीं उन्हें स्थिर रखते हुए) स्वाधीन चला जाता है। वीरजिनेन्द्रने अपने विहारके समय सबको अहिंसाका-अभयका—दान दिया है, शमवादोंकी—रागादिक दोषोंकी उपशांतिके प्रतिपादक आगमोंकी—रक्षा की है और वैषम्य-स्थापक, हिंसाविधायक एवं सर्वथा एकान्त-प्रतिपादक उन सभी

वादों—मतोंका खण्डन किया है जो गिरिभित्तियोंकी तरह सन्मार्गमें बाधक बने हुए थे। उनका शासन नयोंके भङ्ग अथवा भक्तिरूप अलङ्कारोंसे अलंकृत है—अनेकान्तवादका आश्रय लेकर नयोंके सापेक्ष व्यवहारकी सुन्दर शिक्षा देता है—और इस तरह यथार्थ वस्तुतत्त्वके निरूपण और परहित-प्रतिपादनादिमें समर्थ होता हुआ बहुगुण-सम्पत्तिसे युक्त है, पूर्ण है और समन्तभद्र है—सब ओरसे भद्ररूप, निर्बाधनादि-विशिष्ट शोभासे सम्पन्न एवं जगतके लिये कल्याणकारी है; जब कि दूसरोंका—एकान्तवादियोंका—शासन मधुर वचनोंके विन्याससे मनोज्ञ होता हुआ भी बहुगुणोंकी सम्पत्तिसे विकल है—सत्य-शासनके योग्य जो यथार्थवादिता, और परहित-प्रतिपादनादि-रूप बहुतसे गुण हैं उनकी शोभासे रहित है।

स्तवनोंके इस परिचय-समुच्चय-परसे यह साफ जाना जाता है कि सभी जैन तीर्थङ्कर स्वावलम्बी हुए हैं। उन्होंने अपने आत्मदोषों और उनके कारणोंको स्वयं समझा है और समझ कर अपने ही पुरुषार्थसे—अपने ही ज्ञानबल और योग बलसे—उन्हें दूर एवं निर्मूल किया है। अपने आत्मदोषोंको स्वयं दूर तथा निर्मूल करके और इस तरह अपना आत्म-विकास स्वयं सिद्ध करके वे मोह, माया, ममता और तृष्णादिसे रहित 'स्वयम्भू' बने हैं—पूर्ण दर्शन-ज्ञान एवं सुख-शक्तिको लिये हुए 'अर्हत्पदको' प्राप्त हुए हैं। और इस पदको प्राप्त करनेके बाद ही वे दूसरोंको उपदेश देनेमें प्रवृत्त हुए हैं। उपदेशके लिये परमकरुणा-भावसे प्रेरित होकर उन्होंने जगह-जगह विहार किया है और उस विहारके अवसर पर उनके उपदेशके लिए बड़ी बड़ी सभाएँ जुड़ी हैं, जिन्हें 'समवसरण' कहा जाता है। उन सबका उपदेश,

शासन अथवा प्रवचन अनेकान्त और अहिंसाके आधार पर प्रतिष्ठित था और इसलिये यथार्थ वस्तुतत्त्वके अनुकूल और सबके लिये हितरूप होता था। उन उपदेशोंसे विश्वमें तत्त्वज्ञान-की जो धारा प्रवाहित हुई है उसके ठीक सम्पर्कमें आनेवाले असंख्य प्राणियोंके अज्ञान तथा पापमल धुल गए हैं और उनकी भूल-भ्रांतियां मिट कर तथा असत्यवृत्तियां दूर हो कर उन्हें यथेष्ट सुख-शान्तिकी प्राप्ति हुई है। उन प्रवचनोंसे ही उस-उस समय सत्तीर्थकी स्थापना हुई है और वे संसारसमुद्र अथवा दुःखसागरसे पार उतारनेके साधन बने हैं। उन्हींके कारण उनके उपदेष्टा तीर्थङ्कर कहलाते हैं और वे लोकमें सातिशय पूजाको प्राप्त हुए हैं तथा आज भी उन गुणज्ञों और अपना हित चाहनेवालोंके द्वारा पूजे जाते हैं जिन्हें उनका यथेष्ट परिचय प्राप्त है।

अर्हद्विशेषण-पद

स्वामी समन्तभद्रने. अपने इस स्तोत्रमें. तीर्थङ्कर अर्हन्तोंके लिये जिन विशेषणपदोंका प्रयोग किया है उनसे अर्हत्स्वरूपपर अच्छा प्रकाश पड़ता है और वह नय-विवक्षाके साथ अर्थपर दृष्टि रखते हुए उनका पाठ करने पर सहजमें ही अवगत हो जाता है। अतः यहां पर उन विशेषणपदोंका स्तवनक्रमसे एकत्र संग्रह किया जाता है। जिनपदोंका मूलप्रयोग सम्बोधन तथा द्वितीयादि विभक्तियों और बहुवचनादिके रूपमें हुआ है उन्हें अर्थावबोधकी सुविधा एवं एकरूपताकी दृष्टिसे यहां प्रथमाके एक वचनमें ही रक्खा गया है, साथमें स्थान-सूचक पद्याङ्क भी पद्य सम्बन्धी विशेषणोंके अन्तमें दे दिये गये हैं। और जो एक विशेषण अनेक स्तवनोंमें प्रयुक्त हुआ है उसे एक ही जगह—प्रथम प्रयोगके स्थानपर—ग्रहण किया गया है, अन्यत्र प्रयोगकी

सूचना इसके आगे ब्रेकटके भीतर पद्याङ्क देकर कर दी गई है :—

(१) स्वयम्भूः, भूतहितः. समञ्जस-ज्ञान-विभूति-चक्षुः. तमो विधुन्वन १; प्रबुद्धतत्त्वः. अद्भुतोदयः. विदांवरः २; मुमुक्षुः (८८). आत्मवान (८२). प्रभुः (२०. २८. ६६). सहिष्णुः. अच्युतः ३; ब्रह्मपदामृतेश्वरः ४; विश्वचक्षुः. वृषभः. सतामर्चितः. समग्र विद्यात्मवपुः. निरञ्जनः, जिनः (३६. ४५. ५०. ५१. ५७. ८०. ८१. ११२, ११४, १३०. १३७, १४१). अजित-क्षुल्लक-वादि-शासनः ५ ।

(२) अजितशासनः. प्रणेता ७: महामुनिः (७०). मुक्तघनोपदेहः ८; पृथुज्येष्ठ-धर्मतीर्थ-प्रणेता ९: ब्रह्मनिष्ठः. सम-मित्र-शत्रुः. विद्या-विनिर्वान्त-कषाय-दोषः लब्धात्म-लक्ष्मीः. अजितः. अजितात्मा, भगवान (१८. ३१. ४०. ६६. ८०. ११७. १२१) १० ।

(३) शम्भवः. आकस्मिकवैद्यः ११: स्याद्वादी, नाथः (२५. ५७, ७५, ९६. १२९). शास्ता १४; पुण्यकीर्तिः (८७). आर्यः (४८. ६८) १५ ।

(४) अभिनन्दनः, समाधितन्त्रः १६; सतां गतिः २० ।

(५) सुमतिः. मुनिः (४६. ६१, ७४. ७६) २१ ।

(६) पद्मप्रभः. पद्मालयालिङ्गित-चारुमूर्तिः. भव्यपयोरुहाणां पद्मबन्धुः २६; विमुक्तः २७: पातित-मार-दर्पः २६; गुणाम्बुधिः. अजः (५०. ८५), ऋषिः (६०. १२१) ३० ।

(७) सुपार्श्वः ३१: सर्व-तत्त्व-प्रमाता, हितानुशास्ता, गुणावलोकस्य जनस्य नेता ३५ ।

(८) चन्द्रप्रभः, चन्द्रमरीचि-गौरः. महतामभिवन्द्यः. ऋषीन्द्रः. जितस्वान्त-कषाय-बन्धः ३६; सर्वलोक-परमेष्ठी,

अद्भुत-कर्म-तेजाः, अनन्तधामाऽक्षर-विश्वचक्षुः, समन्त-दुःख-क्षय-शासनः ३९; विपन्न-दोषाऽभ्र-कलङ्क-लेपः, व्याकोश-वाङ्-न्याय-मयूख-मालः, पवित्रः ४० ।

(९) सुविधिः ४१, जगदीश्वराणामभिवन्द्यः, साधुः ४५ ।

(१०) अनघः (१११) ४६; नक्तंदिवमप्रमत्तवान ४८; समधीः ४९; उत्तमज्योतिः, निर्वृतः, शीतलः ५० ।

(११) श्रेयान्, अजेय-वाक्यः ५१; कैवल्य-विभूति-सम्राट्, अर्हन्, स्तवार्हः ५५ ।

(१२) शिवासत्वभ्युदय-क्रियासु पूज्यः, त्रिदशेन्द्र-पूज्यः, मुनीन्द्रः (८५) ५६; वीतरागः, विवान्त-वैरः ५७; पूज्यः ५८; बुधानामभिवन्द्यः ६० ।

(१३) विमलः ६१; आर्य-प्रणतः ६५ ।

(१४) तत्त्वरुचौ प्रसीदन्, अनन्तजित ६६; अशेपवित् ६७; उदासीनतमः ६९ ।

(१५) अनघ-धर्मतीर्थ-प्रवर्तयिता धर्मः, शङ्करः ७१; देव-मानव-निकाय-सत्तमैः परिवृतः, बुधैर्वृतः ७२; प्रातिहार्य-विभवैः परिष्कृतः, देहतोऽपि विरतः, शासन-फलैषणाऽनातुरः ७३; धीरः (९०, ९१, ९४) ७४; मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्, देवतास्वपि देवता, परम-देवता, जिनवृषः ७५ ।

(१६) दयामूर्तिः ७६; महोदयः ७७; आत्मतन्त्रः ७८; स्वदोष-शान्त्या विहितात्म-शान्तिः, शरणं गतानां शान्तेर्विधाता, शान्तिः, शरण्यः ८० ।

(१७) कुन्थु-प्रभृत्यखिल-सत्त्व-दयैकतानः, कुन्थुजिनः, धर्म-चक्रवर्तयिता ८१; विषय-सौख्य-पराङ्मुखः ८२; रत्नत्रयाऽतिशय-

तेजसि जातवीर्यः, सकल-वेद-विधेर्विनेता ८४; अप्रतिमेयः, स्तुत्यः (११६) ८५ ।

(१८) भूषा-वेषाऽऽयुध-त्यागी, विद्या-दम-दयापरः, दोष-विनिग्रहः ९४; सर्वज्ञज्योतिषोद्भूत-महिमोदयः ९६; अनेकान्तात्मदृष्टिः ९८; निरूपम-युक्त-शासनः, प्रियहित-योग-गुणाऽनुशासनः, अर-जिनः, दम-तीर्थनायकः १०४; वरदः १०५ ।

(१९) महर्षिः १०६; जिन-शिशिरांशुः १०९; जिनसिंहः, कृत-करणीयः, मल्लिः, अशल्यः ११० ।

(२०) अधिगत-मुनि-सुव्रत-स्थितिः, मुनिवृषभः, मुनिसुव्रतः १११; कृत-मद-निग्रह-विग्रहः ११२; शशि-रुचि-शुचि-शुक्ल-लोहित-वपुः, सुरभितर-विरजवपुः, यतिः ११३; वदतांवरः ११४; अभव-सौख्य-वान् ११५ ।

(२१) सततमभिपूज्यः, नमि-जिनः ११६; धीमान् , ब्रह्म-प्रणिधिमनाः, विदुषां मोक्ष-पदवी ११७; सकल-भुवन-ज्येष्ठ-गुरुः ११८; परमकरुणः ११९; भूषा-वेष-व्यवधि-रहित-वपुः, शान्त-करणः, निर्मोहः, शान्तिनिलयः १२० ।

(२२) परम-योग-दहन-हुत-कल्मषेन्धनः १२१; अनवद्य-विनय-दम-तीर्थनायकः, शीलजलधिः, विभवः, अरिष्टनेमिः, जिनकुञ्जरः, अजरः १२२; बुधनुतः १३० ।

(२३) महामना १३१; ईश्वरः, विधूत-कल्मषः, शमोपदेशः १३४; सत्य-विद्या-तपसां प्रणायकः, समग्रधीः, पार्श्वजिनः, विलीन-मिथ्यापथ-दृष्टि-विभ्रमः १३५ ।

(२४) वीरः १३६; मुनीश्वरः १३८; सुराऽसुर-महितः, ग्रन्थिक-सत्वाऽऽशयप्रणामाऽमहितः, लोक-त्रय-परम-हितः, अनावरण-ज्योतिः, उज्ज्वलधामहितः १३९; गत-मद-मायः, मुमुक्षु-कामदः

१४१, शम-वादानवन्, अपगत-प्रमा-दानवान् १४२; देवः, समन्त-भद्र-मतः १४३।

इन विशेषण-पदोंको आठ समूहों अथवा विभागोंमें विभाजित किया जा सकता है; जैसे १ कर्मकलंक और दोषों पर विजयके सूचक, २ ज्ञानादि-गुणोत्कर्ष-व्यंजक, ३ परहित-प्रतिपादनादिरूप लोकहितषितामूलक. ४ पूज्यताऽभिव्यञ्जक, ५ शासनकी महत्ताके प्रदर्शक, ६ शारीरिक स्थिति और अभ्युदयके निदर्शक, ७ साधना-की प्रधानताके प्रकाशक, और ८ मिश्रित-गुणोंके वाचक।

ये सब विशेषणपद एक प्रकारसे अर्हन्तोंके नाम हैं जो उनके किसी किसी गुण अथवा गुणसमूहकी अपेक्षाको साथमें लिये हुए हैं। यद्यपि इन विशेषण-पदोंमें कितने ही विशेषण-पद—जैसे साधुः, मुनिः, यतिः आदिक—साधारण अथवा सामान्य जान पड़ते हैं; क्योंकि वे अर्हत्पदसे रहित दूसरोंके लिए भी प्रयुक्त होते हैं। परन्तु उन्हें यहां साधारण नहीं समझना चाहिये; क्योंकि असाधारण व्यक्तित्वको लिये हुए महान पुरुषोंके लिए जब साधारण विशेषण प्रयुक्त होते हैं तब वे 'आश्रयाज्जायते लोके निःप्रभोऽपि महाद्युतिः' की उक्तिके अनुसार आश्रयके माहात्म्यसे असाधारण अर्थके द्योतक होते हैं—उनका अर्थ अपनी चरमसीमाको पहुँचा हुआ ही नहीं होता बल्कि दूसरे अर्थोंकी प्रभाको भी अपने साथमें लिये हुए होता है।

जैनतीर्थङ्कर अर्हद्गुणोंकी दृष्टिसे प्रायः समान होते हैं, इसलिए व्यक्तित्व-विशेषकी कुछ बातोंको छोड़कर अर्हत्पदकी दृष्टिसे एक तीर्थङ्करके जो गुण अथवा विशेषण हैं वे ही दूसरेके हैं—भले ही उनके साथमें उन विशेषणोंका प्रयोग न हुआ हो या प्रयोगको अवसर न मिला हो। और इस तरह अन्तिम तीर्थङ्कर श्रीवीरजिनेन्द्रमें उन सभी गुणोंकी परिसमाप्ति एवं पूर्णता

समझनी चाहियें जिनका अन्य वृषभादि तीर्थङ्करोंके स्तवनोंमें उल्लेख हुआ अथवा प्रदर्शन किया गया है। और उनका शासन-तीर्थ उन सब गुणोंसे विशिष्ट है जो अन्य जैन तीर्थङ्करोंके शासन-में निर्दिष्ट हुए हैं। तीर्थङ्कर-नामोंके सार्थक, अन्वयार्थक अथवा गुणार्थक होनेसे एक तीर्थङ्करका जो नाम है वह दूसरोंका विशेषण अथवा गुणार्थक पद हो जाता है[1] और इसलिए उन्हें भी विशेषणपदोंमें संगृहीत किया गया है।

भक्तियोग और स्तुति-प्रार्थनादि-रहस्य

जैनधर्मके अनुसार, सब जीव द्रव्यदृष्टिसे अथवा शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा परस्पर समान हैं—कोई भेद नहीं-सबका वास्तविक गुण-स्वभाव एक ही है। प्रत्येक स्वभावसे ही

[1] इसी दृष्टिको लेकर द्विसंधानादि चतुर्विंशतिसंधान-जैसे काव्य रचे गए हैं। चतुर्विंशतिसंधानको पं० जगन्नाथने एक ही पद्यमें रचा है, जिसमें २४ तीर्थङ्करोंके नाम आ गए हैं, और एक एक तीर्थङ्करकी अलग अलग स्तुतिके रूपमें उसकी २४ व्याख्याएँ की गई हैं और २५वीं व्याख्या समुच्चय स्तुतिके रूपमें है (देखो, वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित 'जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह' पृ० ७८)। हालमें 'पंचवटी' नामका एक ऐसा ही ग्रन्थ मुझे जयपुरसे उपलब्ध हुआ है जिसके प्रथम स्तुतिपद्यमें २४ तीर्थङ्करोंके नाम आ गए हैं और संस्कृत व्याख्या-में उन नामोंके अर्थको वृषभजिनके सम्बन्धमें स्पष्ट करते हुए अजितादि शेष तीर्थङ्करोंके सम्बन्धमें भी घटित कर लेनेकी बात कही गई है। वह पद्य इस प्रकार है—

> श्रीधर्मो वृषभोऽभिनन्दन अरः पद्मप्रभः शीतलः
> शान्तिः संभव वासुपूज्य अजितश्चन्द्रप्रभः सुव्रत।
> श्रेयान् कुन्थुरनंतवीरविमलः श्रीपुष्पदन्तो नमिः
> श्रीनेमिः सुमतिः सुपार्श्वजिनराट् पार्श्वो मल्लिः पातु वः॥१॥

अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनंतवीर्यादि अनंतशक्तियोंका आधार है—पिण्ड है। परन्तु अनादिकालसे जीवोंके साथ कर्ममल लगा हुआ है, जिसकी मूल प्रकृतियां आठ, उत्तर प्रकृतियां एकसौ अड़तालीस और उत्तरोत्तर प्रकृतियां असंख्य हैं। इस कर्म-मलके कारण जीवोंका असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियाँ अविकसित हैं और वे परतंत्र हुए नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए नजर आते हैं। अनेक अवस्थाओंको लिए हुए संसारका जितना भी प्राणि-वर्ग है वह सब उसी कर्म-मलका परिणाम है—उसीके भेदसे यह सब जीवजगत् भेदरूप है; और जीवकी इस अवस्थाको 'विभाव-परिणति' कहते हैं। जबतक किसी जीवकी यह विभाव-परिणति बनी रहती है तब तक वह 'संसारी' कहलाता है और तभी तक उसे संसारमें कर्मानुसार नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा दुःख उठाना होता है। जब योग्य साधनोंके बलपर यह विभाव-परिणति मिट जाती है—आत्मामें कर्म-मलका सम्बन्ध नहीं रहता—और उसका निज स्वभाव सर्वाङ्गरूपसे अथवा पूर्णतया विकसित हो जाता है, तब वह जीवात्मा संसार-परिभ्रमणसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है और मुक्त, सिद्ध अथवा परमात्मा कहलाता है, जिसकी दो अवस्थाएँ हैं—एक जीवन्मुक्त और दूसरी विदेह-मुक्त। इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे जीवोंके 'संसारी' और 'सिद्ध' ऐसे मुख्य दो भेद कहे जाते हैं; अथवा अविकसित, अल्पविक-सित, बहुविकसित और पूर्ण-विकसित ऐसे चार भागोंमें भी उन्हें बाँटा जा सकता है। और इस लिये जो अधिकाधिक विकसित हैं वे स्वरूपसे ही उनके पूज्य एवं आराध्य हैं जो अविकसित या अल्पविकसित हैं; क्योंकि आत्मगुणोंका विकास सबके लिये इष्ट है।

ऐसी स्थिति होते हुए यह स्पष्ट है कि संसारी जीवोंका हित इसीमें है कि वे अपनी विभाव-परिणति को छोड़कर स्वभावमें स्थिर होने अर्थात् सिद्धिको प्राप्त करनेका यत्न करें। इसके लिये आत्म-गुणोंका परिचय चाहिए गुणोंमें वर्द्धमान अनुराग चाहिये और विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धा चाहिये। बिना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नहीं होती—अननुरागी अथवा अभक्त-हृदय गुण-ग्रहणका पात्र ही नहीं. बिना परिचयके अनुराग बढ़ाया नहीं जा सकता और बिना विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धाके गुणोंके विकासकी ओर यथेष्ट प्रवृत्ति ही नहीं बन सकती। और इस लिये अपना हित एवं विकास चाहनेवालोंको उन पूज्य महापुरुषों अथवा सिद्धात्माओंकी शरणमें जाना चाहिये—उनकी उपासना करनी चाहिये. उनके गुणोंमें अनुराग बढ़ाना चाहिए और उन्हें अपना मार्ग-प्रदर्शक मानकर उनके नक़शे क़दमपर—पदचिन्होंपर—चलना चाहिये अथवा उनकी शिक्षाओंपर अमल करना चाहिये. जिनमें आत्माके गुणोंका अधिकाधिक रूपमें अथवा पूर्णरूपसे विकास हुआ हो; यही उनके लिये कल्याणका सुगम मार्ग है। वास्तवमें ऐसे महान् आत्माओंके विकसित आत्मस्वरूपका भजन और कीर्तन ही हम संसारी जीवोंके लिए अपने आत्माका अनुभवन और मनन है; हम 'सोऽहं' की भावना-द्वारा उसे अपने जीवनमें उतार सकते हैं और उन्हींके—अथवा परमात्मस्वरूपके—आदर्शको सामने रखकर अपने चरित्रका गठन करते हुए अपने आत्मीय गुणोंका विकास सिद्ध करके तद्रूप हो सकते हैं। इस सब अनुष्ठानमें उन सिद्धात्माओंकी कुछ भी ग़रज़ नहीं होती और न इसपर उनकी कोई प्रसन्नता ही निर्भर है—यह सब साधना अपने ही उत्थानके लिए की जाती है। इसीसे सिद्धि (स्वात्मोपलब्धि) के साधनोंमें 'भक्ति-योग' को

एक मुख्य स्थान प्राप्त है, जिसे 'भक्ति-मार्ग' भी कहते हैं।

सिद्धिको प्राप्त हुए शुद्धात्माओंकी भक्तिद्वारा आत्मोत्कर्ष साधनेका नाम ही 'भक्ति-योग' अथवा भक्ति-मार्ग' है और 'भक्ति' उनके गुणोंमें अनुरागको, तदनुकूल वर्त्तनको अथवा उनके प्रति गुणानुरागपूर्वक आदर-सत्काररूप प्रवृत्तिको कहते हैं, जो कि शुद्धात्मवृत्तिकी उत्पत्ति एवं रक्षाका साधन है। स्तुति, प्रार्थना, वन्दना, उपासना, पूजा, सेवा, श्रद्धा और आराधना ये सब भक्तिके ही रूप अथवा नामान्तर हैं। स्तुति-पूजा-वन्दनादिके रूपमें इस भक्तिक्रियाको 'सम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया' बतलाया है, 'शुभोपयोगि चरित्र' लिखा है और साथ ही कृतिकर्म' भी लिखा है, जिसका अभिप्राय है 'पापकर्म-छेदन-का अनुष्ठान'। सद्भक्तिके द्वारा औद्धत्य तथा अहंकारके त्यागपूर्वक गुणानुराग बढ़नेसे प्रशस्त अध्यवसायकी—कुशल परिणामकी—उपलब्धि होती है और प्रशस्त अध्यवसाय अथवा परिणामोंकी विशुद्धिसे संचित कर्म उसी तरह नाशको प्राप्त होता है, जिस तरह काष्ठके एक सिरेमें अग्निके लगनेसे वह सारा ही काष्ठ भस्म हो जाता है। इधर संचित कर्मोंके नाशसे अथवा उनकी शक्तिके शमनसे गुणावरोधक कर्मोंकी निर्जरा होती या उनका बल-क्षय होता है तो उधर उन अभिल-षित गुणोंका उदय होता है, जिससे आत्माका विकास सधता है। इसीसे स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् आचार्योंने परमा-त्माकी स्तुतिरूपमें इस भक्तिको कुशल-परिणामकी हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्गको सुलभ और स्वाधीन बतलाया है[1] और अपने तेजस्वी तथा सुकृती आदि होनेका कारण भी[2]

१. देखो, स्वयम्भूस्तोत्रकी कारिका नं० ११६

२. देखो, स्तुतिविद्याका पद्य नं० ११४

इर्मांको निर्दिष्ट किया है और इसी लिए स्तुति-वन्दनादिके रूपमें यह भक्ति अनेक नैमित्तिक क्रियाओंमें ही नहीं, किन्तु नित्यकी षट् आवश्यक क्रियाओंमें भी शामिल की गई है, जो कि सब आध्यात्मिक क्रियाएँ हैं और अन्तर्दृष्टिपुरुषों (मुनियों-तथा श्रावकों) के द्वारा आत्मगुणोंके विकासको लक्ष्यमें रखकर ही नित्य की जाती हैं और तभी वे आत्मोत्कर्षकी साधक होती हैं। अन्यथा, लौकिक लाभ, पूजा-प्रतिष्ठा, यश, भय, रूढि आदिके वश होकर करनेसे उनके द्वारा प्रशस्त अध्यवसाय नहीं बन सकता और न प्रशस्त अध्यवसायके बिना संचित पापों अथवा कर्मोंका नाश होकर आत्मीय गुणोंका विकास ही सिद्ध किया जा सकता है। अतः इस विषयमें लक्ष्यशुद्धि एवं भावशुद्धिपर दृष्टि रखनेकी खास जरूरत है, जिसका सम्बन्ध विवेकसे है। बिना विवेकके कोई भी क्रिया यथेष्ट फलदायक नहीं होती, और न बिना विवेककी भक्ति सद्भक्ति ही कहलाती है।

स्वामी समन्तभद्र का यह 'स्वयम्भू ग्रन्थ 'स्तोत्र' होनेसे स्तुति-परक है और इस लिये भक्तियोगकी प्रधानताको लिये हुए हैं, इसमें सन्देहके लिये कोई स्थान नहीं है। सच पूछिये तो जब तक किसी मनुष्यका अहंकार नहीं मरता तब तक उसके विकास-की भूमिका ही तय्यार नहीं होती। बल्कि पहलेसे यदि कुछ विकास हुआ भी होताहै तो वह भी 'किया कराया सब गया जब आया हुंकार' की लोकोक्तिके अनुसार जाता रहता अथवा दूषित हो जाता है। भक्तियोगसे अहंकार मरता है, इसीसे विकास-मार्गमें सबसे पहले भक्तियोगको अपनाया गया है और इसीसे स्तोत्रग्रन्थोंके रचनेमें समन्तभद्र प्रायः प्रवृत्त हुए जान पड़ते हैं। आप्तपुरुषों अथवा विकासको प्राप्त शुद्धात्मा-ओंके प्रति आचार्य समन्तभद्र कितने विनम्र थे और उनके

गुणोंमें कितने अनुरागी थे यह उनके स्तुति-ग्रन्थोंसे भले प्रकार जाना जाता है। उन्होंने स्वयं स्तुतिविद्यामें अपने विकासका प्रधान श्रेय भक्तियोगको दिया है (पद्य ११४); भगवान जिनदेवके स्तवनको भव-वनको भस्म करने वाली अग्नि लिखा है; उनके स्मरणको क्लेश समुद्रसे पार करनेवाली नौका बतलाया है (प० ११५) और उनके भजनको लोहसे पारस-मणिके स्पर्श-समान बतलाते हुए यह घोषित किया है कि उसके प्रभावसे मनुष्य विशदज्ञानी होता हुआ तेजको धारण करता है और उसका वचन भी सारभूत हो जाता है (६०)।

अब देखना यह है कि प्रस्तुत स्वयम्भूग्रन्थमें भक्तियोगके अङ्गस्वरूप स्तुति' आदिके विषयमें क्या कुछ कहा गया है और उनका क्या उद्देश्य, लक्ष्य अथवा हेतु प्रकट किया है:—

लोकमें 'स्तुति' का जो रूप प्रचलित है उसे बतलाते हुए और वैसी स्तुति करनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए, स्वामीजी लिखते है —

गुण-स्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्व-कथा स्तुतिः ।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥८६॥
तथाऽपि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामाऽपि कीर्तितम् ।
पुनाति पुण्यकीर्तेनस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ॥८७॥

अर्थात्—विद्यमान गुणोंकी अल्पताको उल्लङ्घन करके जो उनके बहुत्वकी कथा की जाती है—उन्हें बढ़ा-चढ़ाकर कहा जाता है—उसे लोकमें 'स्तुति' कहते हैं। वह स्तुति (हे जिन!) आपमें कैसे बन सकती है?—नहीं बन सकती। क्योंकि आपके गुण अनन्त होनेसे पूरे तौर पर कहे ही नहीं जा सकते—बढ़ा-चढ़ाकर कहनेकी तो बात ही दूर है। फिर भी आप पुण्यकीर्ति

मुनीन्द्रका चूँकि नाम-कीर्तन भी—भक्ति-पूर्वक नामका उच्चारण भी—हमें पवित्र करता है, इस लिए हम आपके गुणोंका कुछ—लेशमात्र—कथन (यहां) करते हैं।

इससे प्रकट है कि समन्तभद्रकी जिन-स्तुति यथार्थताका उल्लंघन करके गुणोंको बढ़ा-चढ़ाकर कहनेवाली लोकप्रसिद्ध स्तुति-जैसी नहीं है, उसका रूप जिनेन्द्रके अनन्त गुणोंमेंसे कुछ गुणोंका अपनी शक्तिके अनुसार आंशिक कीर्तन करना है[1] और उसका उद्देश्य अथवा लक्ष्य है आत्माको पवित्र करना। आत्माका पवित्रीकरण पापोंके नाशसे—मोह, कषाय तथा राग-द्वेषादिकके अभावसे—होता है। जिनेन्द्रके पुण्य-गुणोंका स्मरण एवं कीर्तन आत्माकी पाप-परिणतिको छुड़ाकर उसे पवित्र करता है, इस बातको निम्न कारिकामें व्यक्त किया गया है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे
न निन्दया नाथ! विवान्त-वैरे।
तथाऽपि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः
पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥

इसी कारिकामें यह भी बतलाया गया है कि पूजा-स्तुतिसे जिनदेवका कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि वे वीतराग हैं—रागका अंश भी उनके आत्मामें विद्यमान नहीं हैं, जिससे किसीकी

---

१ इसी आशयको 'युक्त्यनुशासन' की निम्न दो कारिकाओंमें भी व्यक्त किया गया है :—

याथात्म्यमुल्लंघ्य गुणोदयाख्या लोके स्तुतिर्भूरिगुणोदधेस्ते।
अणिष्ठमप्यंशमशक्नुवन्तो वक्तुं जिन! त्वां किमिव स्तुयाम ॥२॥
तथापि वैय्यात्यमुपेत्य भक्त्या स्तोताऽस्मि ते शक्त्यनुरूप-वाक्यः।
इष्टे प्रमेयेऽपि यथास्वशक्ति किन्नोत्सहन्ते पुरुषाः क्रियाभिः ॥३॥

पूजा, भक्ति या स्तुतिपर वे प्रसन्न होते। वे तो सच्चिदानन्दमय होनेसे सदा ही प्रसन्नस्वरूप हैं. किसीकी पूजा आदिकसे उनमें नवीन प्रसन्नताका कोई संचार नहीं होता और इसलिये उनकी पूजा भक्ति या स्तुतिका लक्ष्य उन्हें प्रसन्न करना तथा उनकी प्रसन्नता-द्वारा अपना कोई कार्य सिद्ध करना नहीं है और न वे पूजादिकसे प्रसन्न होकर या स्वेच्छासे किसीके पापोंको दूर करके उसे पवित्र करनेमें प्रवृत्त होते हैं, बल्कि उनके पुण्य-गुणोंके स्मरणादिसे पाप स्वयं दूर भागते हैं और फलतः पूजक या स्तुतिकर्ताके आत्मामें पवित्रताका संचार होता है। इसी बातको और अच्छे शब्दोंमें निम्नकारिका-द्वारा स्पष्ट किया गया है—

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्न त्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम् ॥११६॥

इसमें बतलाया है कि—'स्तुतिके समय और स्थानपर स्तुत्य चाहे मौजूद हो या न हो और फलकी प्राप्ति भी चाहे सीधी (Direct) उसके द्वारा होती हो या न होती हो. परन्तु आत्म-साधनामें तत्पर साधुस्तोताकी—विवेकके साथ भक्तिभावपूर्वक स्तुति करनेवालेकी—स्तुति कुशल परिणामकी—पुण्यप्रसाधक या पवित्रता-विधायक शुभभावोंकी—कारण जरूर होती है; और वह कुशल परिणाम अथवा तज्जन्य पुण्यविशेष श्रेय फलका दाता है। जब जगतमें इस तरह स्वाधीनतासे श्रेयोमार्ग सुलभ है—स्वयं प्रस्तुत की गई अपनी स्तुतिके द्वारा प्राप्त है—तब हे सर्वदा अभिपूज्य नमि-जिन ! ऐसा कौन विद्वान—परीक्षापूर्वकारी अथवा विवेकी जन—है जो आपकी स्तुति न करे ? करे ही करे।

अनेक स्थानोंपर समन्तभद्रने जिनेन्द्रकी स्तुति करनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए अपनेको अज्ञ (१५), बालक (३०) तथा अल्पधी (५६) के रूपमें उल्लिखित किया है; परन्तु एक स्थानपर तो उन्होंने अपनी भक्ति तथा विनम्रताकी पराकाष्ठा ही कर दी है, जब इतने महान ज्ञानी होते हुए और इतनी प्रौढ़ स्तुति रचते हुए भी वे लिखते हैं—

> त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम
> प्रलाप - लेशोऽल्प- मतेर्महामुने !
> अशेष-माहात्म्यमनीरयन्नपि
> शिवाय संस्पर्श इवाऽमृताम्बुधेः ॥७०॥

'(हे भगवन् !) आप ऐसे हैं, वैसे हैं—आपके ये गुण हैं, वे गुण हैं—इस प्रकार स्तुतिरूपमें मुझ अल्पमतिका—यथावत गुणोंके परिज्ञानसे रहित स्तोताका—यह थोड़ासा प्रलाप है। (तब क्या यह निष्फल होगा ? नहीं।) अमृतसमुद्रके अशेष माहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी जिस प्रकार उसका संस्पर्श कल्याणकारक होता है उसी प्रकार हे महामुने ! आपके अशेष माहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी मेरा यह थोड़ासा प्रलाप आपके गुणोंके संस्पर्शरूप होनेसे कल्याणका ही हेतु है।'

इससे जिनेन्द्र-गुणोंका स्पर्शमात्र थोड़ासा अधूरा कीर्तन भी कितना महत्व रखता है यह स्पष्ट जाना जाता है।

जब स्तुत्य पवित्रात्मा, पुण्य-गुणोंकी मूर्ति और पुण्यकीर्ति हो तब उसका नाम भी, जो प्रायः गुण-प्रत्यय होता है, पवित्र होता है और इसीलिये ऊपर उद्धृत ८७वीं कारिकामें जिनेन्द्रके नाम-कीर्तनको भी पवित्र करनेवाला लिखा है तथा नीचेकी

कारिकामें अजित जिनकी स्तुति करते हुए उनके नामको 'परम-पवित्र' बतलाया है और लिखा है कि आज भी अपनी सिद्धि चाहनेवाले लोग उनके परम पवित्र नामको मंगलके लिये—पाप-को गालने अथवा विघ्न-बाधाओंको टालनेके लिये—बड़े आदरके साथ लेते हैं—

> अद्यापि यस्याऽजित-शासनस्य
> सतां प्रणेतुः प्रतिमंगलार्थम् ।
> प्रगृह्यते नाम परम - पवित्रं
> स्वसिद्धि-कामेन जनेन लोके ॥७॥

जिन अर्हन्तोंका नाम-कीर्तन तक पापोंको दूर करके आत्मा-को पवित्र करता है उनके शरणमें पूर्ण-हृदयसे प्राप्त होनेका तो फिर कहना ही क्या है—वह तो पाप-तापको और भी अधिक शान्त करके आत्माको पूर्ण निर्दोष एवं सुख-शान्तिमय बनानेमें समर्थ है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने अनेक स्थानोंपर 'ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्ति-निलयः' (१२०) जैसे वाक्योंके साथ अपनेको अर्हन्तोंकी शरणमें अर्पण किया है। यहाँ इस विषयका एक खास वाक्य उद्धृत किया जाता है, जो शरण-प्राप्तिमें कारणके भी स्पष्ट उल्लेखको लिये हुए है—

> स्वदोष-शान्त्या विहितात्म-शान्तिः
> शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम् ।
> भूयाद्भव-क्लेश-भयोपशान्त्यै
> शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥८०॥

इसमें बतलाया है कि 'वे भगवान् शान्तिजिन मेरे शरण्य हैं—मैं उनकी शरण लेता हूँ—जिन्होंने अपने दोषोंकी—अज्ञान,

मोह तथा राग-द्वेष-काम-क्रोधादि-विकारोंकी—शान्ति करके आत्मामें परमशान्ति स्थापित की है—पूर्ण सुखस्वरूपा स्वाभाविकी स्थिति प्राप्त की है—और इसलिये जो शरणागतोंको शान्तिके विधाता हैं—उनमें अपने आत्मप्रभावसे दोषोंकी शान्ति करके शान्ति-सुखका संचार करते अथवा उन्हें शान्ति-सुखरूप परिणत करनेमें सहायक एवं निमित्तभूत हैं। अतः (इस शरणागतिके फलस्वरूप) वे शान्ति-जिन मेरे संसार-परिभ्रमणका अन्त और सांसारिक क्लेशों तथा भयोंकी समाप्तिमें कारणीभूत होवें।'

यहां शान्तिजिनको शरणागतोंकी शान्तिका जो विधाता (कर्ता) कहा है उसके लिये. उनमें किसी इच्छा या तदनुकूल प्रयत्नके आरोपकी जरूरत नहीं है. वह कार्य उनके 'विहितात्म-शान्ति' होनेसे स्वयं ही उस प्रकार हो जाता है जिस प्रकार कि अग्निके पास जानेसे गर्मीका और हिमालय या शीतप्रधान प्रदेशके पास पहुँचनेसे सर्दीका संचार अथवा तद्रूप परिणमन स्वयं हुआ करता है और उसमें उस अग्नि या हिममय पदार्थकी इच्छादिक-जैसा कोई कारण नहीं पड़ता। इच्छा तो स्वयं एक दोष है और वह उस मोहका परिणाम है जिसे स्वयं स्वामीजीने इस ग्रन्थमें 'अनन्तदोषाशय-विग्रह' (६६) बतलाया है। दोषोंकी शान्ति हो जानेसे उसका अस्तित्व ही नहीं बनता। और इसलिए अर्हन्तदेवमें बिना इच्छा तथा प्रयत्नवाला कर्तृत्व सुघटित है। इसी कर्तृत्वको लक्ष्यमें रखकर उन्हें 'शान्तिके विधाता' कहा गया है—इच्छा तथा प्रयत्नवाले कर्तृत्वकी दृष्टिसे वे उसके विधाता नहीं हैं। और इस तरह कर्तृत्व-विषयमें अनेकान्त चलता है—सर्वथा एकान्तपक्ष जैनशासनमें ग्राह्य ही नहीं है।

यहां प्रसंगवश इतना और भी बतला देना उचित जान पड़ता है कि उक्त पद्यके तृतीय चरणमें सांसारिक क्लेशों तथा

भयोंकी शांतिमें कारणीभूत होनेकी जो प्रार्थना की गई है वह जैनी प्रार्थनाका मूलरूप है, जिसका और भी स्पष्ट दर्शन नित्यकी प्रार्थनामें प्रयुक्त निम्न प्राचीनतम गाथामें पाया जाता है—

दुक्ख-खओ कम्म-खओ समाहि-मरणं च बोहि-लाहो य।
मम होउ तिजगबंधव! तव जिणवर चरण-सरणेण॥

इसमें जो प्रार्थना की गई है उसका रूप यह है कि—'हे त्रिजगतके (निर्निमित्त) बन्धु जिनदेव! आपके चरण-शरणके प्रसादसे मेरे दुःखोंका क्षय, कर्मोंका क्षय, समाधिपूर्वक मरण और बोधिका—सम्यग्दर्शनादिकका—लाभ होवे।' इससे यह प्रार्थना एक प्रकारसे आत्मोत्कर्षकी भावना है और इस बातको सूचित करती है कि जिनदेवकी शरण प्राप्त होनेसे—प्रसन्नता-पूर्वक जिनदेवके चरणोंका आराधन करनेसे—दुःखोंका क्षय और कर्मोंका क्षयादिक सुखसाध्य होता है। यही भाव समन्त-भद्रकी प्रार्थनाका है। इसी भावको लिए हुए ग्रंथमें दूसरी प्रार्थ-नाएँ इस प्रकार हैं—

"मति-प्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ!" (२५)
"मम भवताद् दुरितासनोदितम्" (१०५)
"भवतु ममाऽपि भवोपशान्तये" (११५)

परन्तु ये ही प्रार्थनाएँ जब जिनेन्द्रदेवको साक्षातरूपमें कुछ करने-करानेके लिये प्रेरित करती हुई जान पड़ती तो हैं वे अलं-कृतरूपको धारण किए हुए होती हैं। प्रार्थनाके इस अलंकृतरूपको लिए हुए जो वाक्य प्रस्तुत ग्रन्थमें पाये जाते हैं वे निम्न प्रकार हैं:—

१. पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनः (५)

२. जिनः श्रियं मे भगवान् विधत्ताम् (१०)
३. ममाऽऽर्यं देयाः शिवतातिमुच्चैः (१५)
४. पूयात्पवित्रो भगवान् मनो मे (४०)
५. श्रेयसे जिनवृष ! प्रसीद नः (७५)

ये सब प्रार्थनाएँ चित्तको पवित्र करने, जिनश्री तथा शिव-सन्ततिको देने और कल्याण करनेकी याचनाको लिए हुए हैं. आत्मोत्कर्ष एवं आत्मविकासको लक्ष्य करके की गई हैं. इनमें असंगतता तथा असंभाव्य-जैसी कोई बात नहीं है—सभी जिनेन्द्रदेवके सम्पर्क तथा शरणमें आनेसे स्वयं सफल होनेवाली अथवा भक्ति-उपासनाके द्वारा सहजसाध्य हैं—और इसलिए अलंकारकी भाषामें की गई एक प्रकारकी भावनाएँ ही हैं। इनके मर्मको अनुवादमें स्पष्ट किया गया है। वास्तवमें परम वीतरागदेवसे विवेकीजनकी प्रार्थनाका अर्थ देवके समक्ष अपनी भावनाको व्यक्त करना है अर्थात् यह प्रकट करना है कि वह आपके चरण-शरण एवं प्रभावमें रहकर और कुछ पदार्थ पाठ लेकर आत्मशक्तिको जागृत एवं विकसित करता हुआ अपनी उस इच्छा, कामना या भावनाको पूरा करनेमें समर्थ होना चाहता है। उसका यह आशय कदापि नहीं होता कि वीतरागदेव भक्तकी प्रार्थनासे द्रवीभूत होकर अपनी इच्छाशक्ति एवं प्रयत्नादिको काममें लाते हुए स्वयं उसका कोई काम कर देंगे अथवा दूसरोंसे प्रेरणादिकके द्वारा करा देंगे। ऐसा आशय असम्भाव्यको संभाव्य बनाने-जैसा है और देवके स्वरूपसे अनभिज्ञता व्यक्त करता है। अस्तु, प्रार्थना विषयक विशेष ऊहापोह स्तुति-विद्याकी प्रस्तावनामें 'वीतरागसे प्रार्थना क्यों ?' इस शीर्षकके नीचे किया गया है और इसलिये उसे वहाँसे जानना चाहिये।

इस तरह भक्तियोगमें, जिसके स्तुति, पूजा, वन्दना, आराधना, शरणागति, भजन-स्मरण और नामकीर्तनादिक अंग हैं, आत्मविकासमें सहायक हैं। और इसलिये जो विवेकीजन अथवा बुद्धिमान पुरुष आत्मविकासके इच्छुक तथा अपना हित-साधनमें सावधान हैं वे भक्तियोगका आश्रय लेते हैं। इसी बातको प्रदर्शित करने वाले ग्रंथके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं:—

१. इति प्रभो ! लोक-हितं यतो मतं
ततो भवानेवगतिः सतां मतः (२०)।

२. ततः स्वनिश्रेयस-भावना-परै-
र्बुधप्रवेकैः जिन ! शीतलेड्यसे (५०)।

३. ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः (६५)।

४. तस्माद्भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः
स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः (८५)।

५. स्वार्थ-नियत-मनसः सुधियः
प्रणमन्ति मन्त्रमुखरा महर्षयः (१२४)।

स्तुतिविद्यामें तो बुद्धि उसीको कहा है जो जिनेन्द्रका स्मरण करती है, मस्तक उसीको बतलाया है जो जिनेन्द्रके पदोंमें नत रहता है, सफलजन्म उसीको घोषित किया है जिसमें संसार-परिभ्रमणको नष्ट करने वाले जिनचरणोंका आश्रय लिया जाता है, वाणी उसीको माना है जो जिनेन्द्रका स्तवन (गुणकीर्तन) करती है, पवित्र उसीको स्वीकार किया है जो जिनेन्द्रके मत में

रत है और पंडितजन उन्हींको अंगीकार किया है जो जिनेन्द्रके चरणोंमें सदा नम्रीभूत रहते हैं[1]। (११३)

इन्हीं सब बातोंको लेकर स्वामी समन्तभद्रने अपनेको अर्हज्जिनेन्द्रकी भक्तिके लिये अर्पण कर दिया था। उनकी इस भक्तिके ज्वलन्त रूपका दर्शन स्तुतिविद्याके निम्न पद्यमें होता है, जिसमें वे वीरजिनेन्द्रको लक्ष्य करके लिखते हैं—'हे भगवन् आपके मतमें अथवा आपके विषयमें मेरी सुश्रद्धा है-अन्ध-श्रद्धा नहीं; मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है—सदा आपका ही स्मरण किया करती है, मैं पूजन भी आपका ही करता हूँ, मेरे हाथ आपको ही प्रणामांजलि करनेके निमित्त हैं मेरे कान आपकी ही गुण-कथाको सुनने में लीन रहते हैं, मेरी आंखें आपके ही सुन्दर रूपको देखा करती हैं, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी सुन्दर स्तुतियों के रचने का है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमें तत्पर रहता है। इस प्रकारकी चूँकि मेरी सेवा है—मैं निरन्तर ही आपका इस तरह आराधन किया करता हूँ--इसीलिये हे तेजःपते! (केवलज्ञान स्वामिन्!) मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृति (पुण्यवान) हूँ :—

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चाऽपि ते
हस्तावञ्जलये कथा-श्रुति-रतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते।

---

१. प्रज्ञा सा स्मरतीति या तव शिरस्तद्यन्नतं ते पदे
जन्मादः सफलं परं भवभिदी यत्राश्रिते ते पदे।
मांगल्यं च स यो रतस्तव मते गीः सैव या त्वा स्तुते
ते ज्ञा ये प्रणता जनाः क्रमयुगे देवाधिदेवस्य ते॥ ११३॥

सुस्तुत्यां व्यसनं शिरो नतिपरं सेवेदृशी येन ते
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥११४॥

यहाँ सबसे पहले 'सुश्रद्धा' की जो बात कही गई है, वह बड़े महत्वकी है और अगली सब बातों अथवा प्रवृत्तियोंकी जान-प्राण जान पड़ती है। इससे जहाँ यह मालूम होता है कि समन्तभद्र जिनेन्द्रदेव तथा उनके शासन(मत)के विषयमें अन्धश्रद्धालु नहीं थे वहाँ यह भी जाना जाता है कि भक्तियोगमें अन्धश्रद्धाका ग्रहण नहीं है—उसके लिये सुश्रद्धा चाहिये, जिसका सम्बन्ध विवेकसे है। समन्तभद्र ऐसी ही विवेकवती सुश्रद्धासे सम्पन्न थे। अन्धी-भक्ति वास्तवमें उस फलको फल ही नहीं सकती जो भक्तियोगका लक्ष्य और उद्देश्य है।

इसी भक्त्यर्पणाकी बातको प्रस्तुत ग्रन्थमें एक दूसरे ही ढंगसे व्यक्त किया गया है और वह इस प्रकार है :—

अतएव ते बुधनुतस्य चरित-गुणमद्भुतोदयम्।
न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसः स्थिता वयम्॥

इस वाक्यमें स्वामी समन्तभद्र यह प्रकट करते हैं कि 'हे बुधजनस्तुतजिनेन्द्र! आपके चरित-गुण और अद्भुत उदयको न्यायविहित-युक्तियुक्त-निश्चय करके ही हम बड़े प्रसन्नचित्तसे आपमें स्थित हुए हैं—आपके भक्त बने हैं और हमने आपका आश्रय लिया है।'

इससे साफ जाना जाता है कि समन्तभद्रने जिनेन्द्रके चरित-गुणको और केवलज्ञान तथा समवसरणादि-विभूतिके प्रादुर्भावको लिये हुए अद्भुत उदयकी जाँच की है—परीक्षा की है—और उन्हें

न्यायकी कसौटीपर कसकर ठीक एवं युक्तियुक्त पाया है तथा अपने आत्मविकासके मार्गमें परम सहायक समझा है, इसी लिये वे पूर्ण हृदयसे जिनेन्द्रके भक्त बने हैं और उन्होंने अपनेको उनके चरण-शरणमें अर्पण कर दिया है। अतः उनकी भक्तिमें कुल-परम्परा, रूढिपालन और कृत्रिमता (बनावट-दिखावट)—जैसी कोई बात नहीं थी—वह एक दम शुद्ध विवेकसे संचालित थी और ऐसा ही भक्तियोगमें होना चाहिये।

हाँ, समन्तभद्रका भक्तिमार्ग, जो उनके स्तुति-ग्रंथोंसे भले प्रकार जाना जाता है, भक्तिके सर्वथा एकान्तको लिये हुए नहीं है। स्वयं समन्तभद्र भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग तीनोंकी एक मूर्ति बने हुए थे—इनमेंसे किसी एक ही योगके वे एकान्त पक्षपाती नहीं थे। निरी या कोरी एकान्तता[1] तो उनके पास तक भी नहीं फटकती थी। वे सर्वथा एकान्तवादके सख्त विरोधी थे और उसे वस्तुतत्त्व नहीं मानते थे। उन्होंने जिन खास कारणोंसे अर्हज्जिनेन्द्रको अपनी स्तुतिके योग्य समझा और उन्हें अपनी स्तुतिका विषय बनाया है उनमें, उनके द्वारा एकान्तदृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धिरूप न्यायबाण भी एक कारण हैं। अर्हन्तदेव अपने इन एकान्तदृष्टि-प्रतिषेधक अमोघ न्यायबाणोंसे—तत्त्वज्ञानके सम्यक् प्रहारोंसे—मोहशत्रुका अथवा मोहकी प्रधानताको लिये हुए ज्ञानावरणादिरूप शत्रु-समूहका नाश करके कैवल्य-विभूतिके—केवल-

१ जो एकान्तता नयोंके निरपेक्ष व्यवहारको लिये हुए होती है उसे 'निरी' 'कोरी' अथवा 'मिथ्या' एकान्तता कहते हैं। समन्तभद्र इस मिथ्यैकान्ततासे रहित थे; इसीसे देवागममें, एक आपत्तिका निरसन करते हुए, उन्होंने लिखा है—"न मिथ्यैकान्तताऽस्ति नः। निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥"

ज्ञानके साथ साथ समवसरणादि-विभूतिके—सम्राट् हुए हैं, इसीलिये समन्तभद्र उन्हें लक्ष्य करके प्रस्तुत ग्रन्थके निम्नवाक्यमें कहते हैं कि 'आप मेरी स्तुतिके योग्य हैं—पात्र हैं'।

एकान्तदृष्टि-प्रतिषेध-सिद्धि-न्यायेषुभिर्मोहरिपुं निरस्य।
असिस्म कैवल्य-विभूति-सम्राट् ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवार्हः॥

इससे समन्तभद्रकी परीक्षा-प्रधानता, गुणज्ञता और परीक्षा करके सुश्रद्धाके साथ भक्तिमें प्रवृत्त होनेकी बात और भी स्पष्ट हो जाती है। साथ ही, यह भी मालूम हो जाता है कि जब तक एकान्तदृष्टि बनी रहती है तब तक मोह नहीं जीता जाता, जब तक मोह नहीं जीता जाता तब तक आत्म-विकास नहीं बनता और न पूज्यताकी ही प्राप्ति होती है। मोहको उन न्याय-बाणोंसे जीता जाता है जो एकान्तदृष्टिके प्रतिषेधको सिद्ध करनेवाले हैं—सर्वथा एकान्तरूप दृष्टिदोषको मिटाकर अनेकान्तदृष्टिकी प्रतिष्ठारूप सम्यग्दृष्टित्वका आत्मामें संचार करनेवाले हैं। इससे तत्त्वज्ञान और तत्त्वश्रद्धानका महत्व सामने आ जाता है, जो अनेकान्तदृष्टिके आश्रित है, और इसीसे समन्तभद्र भक्तियोगके एकान्तपक्षपाती नहीं थे। इसी तरह ज्ञानयोग तथा कर्मयोगके भी वे एकान्त-पक्षपाती नहीं थे—एकका दूसरेके साथ अकाट्य सम्बन्ध मानते थे।

ज्ञान-योग

जिस समीचीन ज्ञानाभ्यासके द्वारा इस संसारी जीवात्माको अपने शुद्धस्वरूपका, पररूपका, परके सम्बन्धका, सम्बन्धसे होनेवाले विकारका — दोषका अथवा विभाव-परिणतिका —, विकारके विशिष्ट कारणोंका और उन्हें

दूर करने, निर्विकार (निर्दोष) बनने, बन्धनरहित (मुक्त) होने तथा अपने निजरूपमें सुस्थित होनेके साधनोंका परिज्ञान कराया जाता है, और इस तरह हृदयान्धकारको दूर कर-भूल-भ्रान्तियोंको मिटाकर-आत्मविकास सिद्ध किया जाता है, उसे 'ज्ञानयोग' कहते हैं। इस ज्ञानयोगके विषयमें स्वामी समन्तभद्रने क्या कुछ कहा है उसका पूरा परिचय तो उनके देवागम, युक्त्यनुशासन आदि सभी ग्रन्थोंके गहरे अध्ययनसे प्राप्त किया जा सकता है। यहांपर प्रस्तुत ग्रन्थमें स्पष्टतया सूत्ररूपसे, सांकेतिक रूपमें अथवा सूचनाके रूपमें जो कुछ कहा गया है उसे, एक स्वतंत्र निबन्धमें संकलित न कर, स्तवन-क्रमसे नीचे दिया जाता है, जिससे पाठकोंको यह मालूम करनेमें सुविधा रहे कि किस स्तवनमें कितना और क्या कुछ तत्त्वज्ञान सूत्रादिरूपसे समाविष्ट किया गया है। विज्ञजन अपने बुद्धिबल-से उसके विशेष रूपको स्वयं समझ सकेंगे—व्याख्या करके यह बतलानेका यहां अवसर नहीं कि उसमें और क्या क्या तत्त्वज्ञान छिपा हुआ है अथवा उसके साथमें अविनाभावरूपसे सम्बद्ध है। उसे व्याख्या करके बतलानेसे प्रस्तावनाका विस्तार बहुत बढ़ जाता है, जो अपनेको इष्ट नहीं है। तत्त्वज्ञान-विषयक जो कथन जिस कारिकामें आया है उस कारिकाका नम्बर भी साथमें नोट कर दिया गया है।

(१) पूर्ण विकासके लिये प्रबुद्धतत्त्व होकर ममत्वसे विरक्त होना, वधू-वित्तादि-परिग्रहका त्याग करके जिनदीक्षा लेना—महाव्रतादिको ग्रहण करना, दीक्षा लेकर आए हुए उपसर्ग-परिषहोंको समभावसे सहना और प्रतिज्ञात सद्व्रत-नियमोंसे चलायमान नहीं होना आवश्यक है (२, ३)। अपने दोषोंके

मूल कारणको अपने ही समाधि-तेजसे भस्म किया जाता है और तभी ब्रह्मपदरूप अमृतका स्वामी बना जाता है (४)।

(२) जो महामुनि घनोपदेहसे—घातिया कर्मोंके आवरणादि-रूप उपलेपसे—रहित होते हैं वे भव्यजनोंके हृदयोंमें संलग्न हुए कलङ्कोंकी—अज्ञानादि दोषों तथा उनके कारणीभूत ज्ञानावरणादि कर्मोंकी—शान्तिके लिये उसी प्रकार निमित्तभूत होते हैं जिस प्रकार कि कमलोंके अभ्युदयके लिये सूर्य (८) [यह ज्ञान भक्ति-योगमें सहायक होता है]। उत्तम और महान धर्मतीर्थको पाकर भव्यजन दुःखोंपर उसी प्रकार विजय प्राप्त करते हैं जिस प्रकार कि घामसे संतप्त हुए हाथी शीतल गंगाद्रहमें प्रवेश करके अपना सब आताप मिटा डालते हैं (९)। जो ब्रह्मनिष्ठ (अहिंसा-तत्पर), सम-मित्र-शत्रु और कषाय-दोषोंसे रहित होते हैं वे ही आत्मलक्ष्मीको—अनन्तज्ञानादिरूप जिनश्रीको—प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं (१०)।

(३) यह जगत अनित्य है, अशरण है, अहंकार-ममकारकी क्रियाओंके द्वारा संलग्न हुए मिथ्याभिनिवेशके दोषसे दूषित है और जन्म-जरा-मरणसे पीड़ित है, उसे निरंजना शान्तिकी जरूरत है (१२)। इन्द्रिय-विषय-सुख बिजलीकी चमकके समान चंचल है—क्षणभर भी स्थिर रहनेवाला नहीं है—और तृष्णा-रूपी रोगकी वृद्धिका एकमात्र हेतु है—इन्द्रिय-विषयोंके अधि-काधिक सेवनसे तृप्ति न होकर उलटी तृष्णा बढ़ जाती है, तृष्णा-की वृद्धि ताप उत्पन्न करती है और वह ताप जगतको (कृषि-वाणिज्यादि क्लेशकर्मोंमें प्रवृत्त कराकर) अनेक दुःख-परम्परासे पीडित करता रहता है (१३)। बन्ध, मोक्ष, दोनोंके कारण, बद्ध, मुक्त और मुक्तिका फल, इन सबकी व्यवस्था स्याद्वादी-अने-

कान्तदृष्टिके मतमें ही ठीक बैठती है—एकान्तदृष्टियों अथवा सर्वथा एकान्तवादियोंके मतोंमें नहीं—और 'शास्ता' (तत्त्वोपदेष्टा) पदके योग्य स्याद्वादी अर्हन्त-जिन ही होते हैं—उन्हींका उपदेश मानना चाहिये (१४)।

(४) समाधिकी सिद्धिके लिये उभयप्रकारके नैर्ग्रन्थ्य-गुण-से—बाह्याभ्यान्तर दोनों प्रकारके परिग्रहके त्यागसे—युक्त होना आवश्यक है—विना इसके समाधिकी सिद्धि नहीं होती; परन्तु क्षमा सखीवाली दयावधूका त्याग न करके दोनोंको अपने आश्रयमें रखना जरूरी है (१६)। अचेतन शरीरमें और शरीर-सम्बन्धसे अथवा शरीरके साथ किया गया आत्माका जो कर्म-वश बन्धन है उससे उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखादिक तथा स्त्री-पुत्रादिकमें 'यह मेरा है' इस प्रकारके अभिनिवेशको लिये हुए होनेसे तथा क्षणभंगुर पदार्थोंमें स्थायित्वक निश्चय कर लेनेके कारण यह जगत नष्ट हो रहा है—आत्महित-साधनसे विमुख होकर अपना अकल्याण कर रहा है (१७)। क्षुधादि दुःखोंके प्रतिकारसे और इन्द्रिय-विषय-जनित स्वल्प सुखके अनुभवसे देह और देहधारीका सुखपूर्वक अवस्थान नहीं बनता। ऐसी हालतमें क्षुधादि-दुःखोंके इस क्षणस्थायी प्रतीकार (इलाज) और इन्द्रिय-विषय-जन्य स्वल्प सुखके सेवनसे न तो वास्तवमें इस शरीरका कोई उपकार बनता है और न शरीरधारी आत्माका ही कुछ भला होता है अतः इन प्रतीकारादिमें आसक्ति (अतीव रागकी प्रवृत्ति) व्यर्थ है (१८)। जो मनुष्य आसक्तिके इस लोक तथा परलोक-सम्बन्धी दोषोंको समझ लेता है वह इन्द्रिय-विषय-सुखोंमें आसक्त नहीं होता; अतः आसक्तिके दोषको भले प्रकार समझ लेना चाहिये (१९)। आसक्तिसे तृष्णाकी अभिवृद्धि होती

है और इस प्राणीकी स्थिति सुखपूर्वक नहीं बनती, इसीसे वह तापकारी है। (चौथे स्तवनमें वर्णित) ये सब लोक-हितकी बातें हैं (२०)।

(५) अनेकान्त-मतसे भिन्न शेष सब मतोंमें सम्पूर्ण क्रियाओं तथा कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंके तत्त्वकी सिद्धि—उनके स्वरूपकी उत्पत्ति अथवा ज्ञप्तिके रूपमें प्रतिष्ठा—नहीं बनती, इसीसे अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व ही सुयुक्ति-नीत है (२१)। वह सुयुक्ति-नीत वस्तुतत्त्व भेदाऽभेद-ज्ञानका विषय है और अनेक तथा एकरूप है, और यह वस्तुको भेद-अभेदके रूपमें ग्रहण करनेवाला ज्ञान ही सत्य है। जो लोग इनमें से एकको ही सत्य मानकर दूसरेमें उपचारका व्यवहार करते हैं वह मिथ्या है; क्योंकि परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध होनेसे दोनोंमेंसे एकका अभाव हो जानेसे वस्तुतत्त्व अनुपाख्य-निःस्वभाव हो जाता है (२२)। जो सत् है उसके कथञ्चित् असत्व-शक्ति भी होती है; जैसे पुष्प वृक्षोंपर तो अस्तित्वको लिये हुए प्रसिद्ध है परन्तु आकाशपर उसका अस्तित्व नहीं है, आकाशकी अपेक्षा वह असत्रूप है। यदि वस्तुतत्त्वको सर्वथा स्वभावच्युत माना जाय तो वह अप्रमाण ठहरता है। इसीसे सर्वजीवादितत्त्व कथञ्चित् सत्-असत्रूप अनेकान्तात्मक है। इस मतसे भिन्न जो एकान्त-मत है वह स्ववचन-विरुद्ध है (२३)। यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो वह उदय-अस्तको प्राप्त नहीं हो सकती और न उसमें क्रिया-कारककी योजना ही बन सकती है। (इसी तरह) जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सर्वथा सत् है उसका कभी नाश नहीं होता। दीपक भी बुझ जानेपर सर्वथा नाशको प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस समय अन्धकाररूप पुद्गल पर्यायको धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है (२४)।

(वास्तव में) विधि और निषेध दोनों कथञ्चित इष्ट हैं। विवक्षा-से उनमें मुख्य-गौणकी व्यवस्था होती है (२५)। इस तत्त्वज्ञान-की कुछ विशेष व्याख्या अनुवादपरसे जानने योग्य है।

(६) जो केवलज्ञानादि लक्ष्मीसे आलिंगित चारुमूर्ति होता है वही भव्यजीवरूप कमलोंको विकसित करनेके लिये सूर्यका काम देता है (२६)।

(७) आत्यन्तिक स्वास्थ्य—विभावपरिणतिसे रहित अपने अनन्तज्ञानादि-स्वरूपमें, अविनश्वरी स्थिति—ही जीवात्माओंका स्वार्थ है—क्षणभंगुर भोग स्वार्थ न होकर अस्वार्थ है। इन्द्रिय-विषय-सुखके सेवनसे उत्तरोत्तर तृष्णाकी—भोगाकांक्षाकी—वृद्धि होती है और उससे तापकी—शारीरिक तथा मानसिक दुःख-की—शान्ति नहीं होने पाती (३१)। जीवके द्वारा धारण किया हुआ शरीर अजंगम, जंगम-नेय-यन्त्र, बीभत्सु, पूति, क्षयि और तापक है और इसलिये इसमें अनुराग व्यर्थ है, यह हितकी बात है (३२)। हेतुद्वयसे आविष्कृत-कार्य-लिङ्गा भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है, इस भवितव्यताकी अपेक्षा न रखनेवाला अहं-कारसे पीड़ित हुआ संसारी प्राणी (यंत्र-मंत्र-तंत्रादि) अनेक सहकारी कारणोंको मिलाकर भी सुखादिक कार्योंको वस्तुतः सम्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता (३३)। यह संसारी प्राणी मृत्युसे डरता है परन्तु (अलंघ्यशक्ति-भवितव्यता-वश) उस मृत्युसे छुटकारा नहीं; नित्य ही कल्याण चाहता है परन्तु (भावी-की उसी अलंघ्यशक्तिवश) उसका लाभ नहीं होता, फिर भी यह मूढ प्राणी भय तथा इच्छाके वशीभूत हुआ स्वयं ही वृथा तप्ता-यमान होता है अथवा भवितव्यता-निरपेक्ष प्राणी वृथा ही भय और इच्छाके वश हुआ दुःख उठाता है (३४)।

(८) जिन्होंने अपने अन्तःकरणके कषाय-बन्धनको जीता है—सम्पूर्ण-क्रोधादि-कषायोंका नाश कर अकषाय-पद प्राप्त किया है—वे 'जिन' होते हैं (३६)। ध्यान-प्रदीपके अतिशयसे—परमशुक्लध्यानके तेज-द्वारा—प्रचुर मानसअन्धकार—ज्ञानावरणादि कर्मजन्य आत्म का समस्त अज्ञानान्धकार—दूर होता है (३७)।

(९) तत्त्व वह है जो सत्-असत् आदिरूप विवक्षिताऽविवक्षित स्वभावको लिये हुए है और एकान्तदृष्टिका प्रतिषेधक है तथा प्रमाण-सिद्धि है(४१)। वह तत्त्व कथंचित तद्रूप और कथंचित अतद्रूप है; क्योंकि वैसी ही सत्-असत् आदि रूपकी प्रतीति होती है। स्वरूपादि-चतुष्टयरूप विधि और पररूपादि-चतुष्टयरूप निषेधके परस्परमें अत्यन्त (सर्वथा) भिन्नता तथा अभिन्नता नहीं है; क्योंकि सर्वथा भिन्नता या अभिन्नता माननेपर शून्य-दोष आता है—वस्तुके सर्वथा लोपका प्रसंग उपस्थित होता है (४२)। यह वही है, इस प्रकारकी प्रतीति होनेसे वस्तुतत्त्व नित्य है और यह वह नहीं—अन्य है, इस प्रकारकी प्रतीतिकी सिद्धिसे वस्तुतत्त्व नित्य नहीं—अनित्य है। वस्तुतत्त्वका नित्य और अनित्य दोनों रूप होना विरुद्ध नहीं है; क्योंकि वह बहिरंग निमित्त—सहकारी कारण—अन्तरंग निमित्त—उपादान कारण—और नैमित्तिक—निमित्तोंसे उत्पन्न होनेवाले कार्य—के सम्बन्धको लिये हुए है (४३)। पदका वाच्य प्रकृति (स्वभाव) से एक और अनेक रूप है, 'वृक्षाः' इस पदज्ञानकी तरह। अनेकान्तात्मक वस्तुके 'अस्तित्वादि किसी एक धर्मका प्रतिपादन करनेपर उस समय गौणभूत नास्तित्वादि दूसरे धर्मके प्रतिपादनमें जिसकी आकांक्षा रहती है ऐसे

आकांक्षी-सापेक्षवादी अथवा स्याद्वादीका 'स्यात्' यह निपात—स्यात् शब्दका साथमें प्रयोग—गौणकी अपेक्षा न रखनेवाले नियममें—सर्वथा एकान्तमतमें बाधक होता है (४४)। 'स्यात्' पदरूपमें प्रतीयमान वाक्य मुख्य और गौणकी व्यवस्थाको लिये हुए है और इसलिये अनेकान्तवादसे द्वेष रखनेवालोंको अपथ्य-रूपसे अनिष्ट है—उनकी सैद्धान्तिक प्रकृतिके विरुद्ध है (४५)। इस स्तवनमें तत्त्वज्ञानकी भी कुछ विशेष व्याख्या अनुवादपरसे जानने योग्य है।

(१०) सांसारिक सुखोंकी अभिलाषारूप अग्निके दाहसे मूर्छित हुआ मन ज्ञानमय अमृतजलोंके सिञ्चनसे मूर्छा-रहित होता है (४७)। आत्मविशुद्धिके मार्गमें दिन रात जागृत रहनेकी—पूर्ण सावधान बने रहनेकी—जरूरत है, तभी वह विशुद्धि सम्पन्न हो सकती है (४८)। मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिको पूर्ण-तया रोकनेसे पुनर्जन्मका अभाव होता है और साथ ही जरा भी टल जाती है (४९)।

(११) वह विधि—स्वरूपादि-चतुष्टयसे अस्तित्वरूप—प्रमाण है जो कथंचित् तादात्म्य-सम्बन्धको लिए हुए प्रतिषेधरूप है—पररूपादि-चतुष्टयकी अपेक्षा नास्तित्वरूप भी है। इन विधि-प्रतिषेध दोनोंमेंसे कोई एक प्रधान होता है (वक्ताके अभि-प्रायानुसार, न कि स्वरूपसे)। मुख्यके नियामका—'स्वरूपादि चतुष्टयसे विधि और पररूपादि चतुष्टयसे ही निषेध' इस नियमका—जो हेतु है वह नय है और वह नय दृष्टान्तसमर्थन-दृष्टान्तसे समर्थित अथवा दृष्टान्तका समर्थक—होता है (५२)। विवक्षित मुख्य होता है और अविवक्षित गौण। जो अविवक्षित होता है वह निरात्मक (अभावरूप) नहीं होता। मुख्य-गौणकी

व्यवस्थासे एक ही वस्तु, शत्रु, मित्र तथा उभय अनुभय-शक्तिको लिये रहती है। वास्तवमें वस्तु दो अवधियों (मर्यादाओं)से ही कार्यकारी होती है—विधि-निषेध, सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय-रूप दो दो धर्मोंका आश्रय लेकर ही अर्थक्रिया करनेमें प्रवृत्त होती है और अपने यथार्थ स्वरूपकी प्रतिष्ठापक बनती है (५३)। वादी-प्रतिवादी दोनोंके विवादमें दृष्टान्तकी सिद्धि होनेपर साध्य प्रसिद्ध होती है; परन्तु वैसी कोई दृष्टान्तभूत वस्तु है ही नहीं जो सर्वथा एकान्तकी नियामक दिखाई देती हो। अनेकान्तदृष्टि सबमें—साध्य, साधन और दृष्टान्तादिमें—अपना प्रभाव डाले हुए है—वस्तुमात्र अनेकान्तत्वसे व्याप्त है। इसीसे सर्वथा एकान्तवादियोंके मतमें ऐसा कोई दृष्टान्त ही नहीं बन सकता जो उनके सर्वथा एकान्तका नियामक हो और इसलिये उनके सर्वथा नित्यत्वादि साध्यकी सिद्धि नहीं बन सकती (५४)। एकान्त दृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धिरूप न्याय-बाणोंसे—तत्त्वज्ञानके सम्यक् प्रहारोंसे—मोहशत्रुका अथवा मोहकी प्रधानताको लिये हुए शत्रुसमूहका—नाश किया जाता है (५५)।

(१२) जो राग और द्वेषसे रहित होते हैं उन्हें यद्यपि पूजा तथा निन्दासे कोई प्रयोजन नहीं होता, फिर भी उनके पुण्य-गुणोंका स्मरण चित्तको पाप-मलोंसे पवित्र करता है (५७)। पूज्य-जिनकी पूजा करते हुए जो (सराग-परिणति अथवा आरम्भादि-द्वारा) लेशमात्र पापका उपार्जन होता है वह (भावपूर्वक की हुई पूजासे उत्पन्न होनेवाली) बहुपुण्यराशिमें उसी प्रकारसे दोषका कारण नहीं बनता जिस प्रकार कि विषकी एक कणिका शीत-शिवाम्बुराशिको—ठंडे कल्याणकारी जलसे भरे हुए समुद्रको—दूषित करनेमें समर्थ नहीं होती (५८)। जो बाह्य वस्तु

गुण-दोषकी उत्पत्तिका निमित्त होती है वह अन्तरंगमें वर्तने-वाले गुण-दोषोंकी उत्पत्तिके अभ्यन्तर मूलहेतुकी अंगभूत होती है। बाह्यवस्तुकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल अभ्यन्तर कारण भी गुण-दोषकी उत्पत्तिमें समर्थ नहीं है (५६)। बाह्य और अभ्यन्तर दोनों कारणोंकी यह पूर्णता ही द्रव्यगत स्वभाव है, अन्यथा पुरुषोंमें मोक्षकी विधि भी नहीं बन सकती (६०)।

(१३) जो नित्य-क्षणिकादिक नय परस्परमें अनपेक्ष (स्वतंत्र) होनेसे स्व-पर-प्रणाशी (स्व-पर-वैरी) हैं (और इसलिये 'दुर्नय' हैं) वे ही नय परस्परापेक्ष (परस्परतंत्र) होनेसे स्व-परो-पकारी हैं और इसलिये तत्त्वरूप सम्यक् नय हैं (६१)। जिस प्रकार एक-एक कारक शेष अन्यको अपना सहायकरूप कारक अपेक्षित करके अर्थकी सिद्धिके लिए समर्थ होता है उसी प्रकार सामान्य और विशेषसे उत्पन्न होनेवाले अथवा सामान्य और विशेषको विषय करनेवाले (द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदिरूप) जो नय हैं वे मुख्य और गौणकी कल्पनासे इष्ट (अभिप्रेत) हैं (६२)। परस्परमें एक-दूसरेकी अपेक्षाको लिए हुए जो अभेद और भेदका—अन्वय तथा व्यतिरेकका—ज्ञान होता है उससे प्रसिद्ध होने वाले सामान्य और विशेषकी उसी तरह पूर्णता है जिस तरह कि ज्ञान-लक्षण-प्रमाण स्व-पर-प्रकाशक रूपमें पूर्ण है। सामान्यके विना विशेष और विशेषके विना सामान्य अपूर्ण है अथवा यों कहिये कि बनता ही नहीं (६३)। वाच्यभूत विशेष्य का—सामान्य अथवा विशेषका—वह वचन जिससे विशेष्यको नियमित किया जाता है 'विशेषण' कहलाता है और जिसे निय-मित किया जाता है वह 'विशेष्य' है। विशेषण और विशेष्य दोनोंके सामान्यरूपताका जो अतिप्रसंग आता है वह स्याद्वाद-मतमें नहीं बनता; क्योंकि विवक्षित विशेषण-विशेष्यसे अन्य

अविवक्षित विशेषण-विशेष्यका 'स्यात्' शब्दसे परिहार हो जाता है जिसकी उक्त मतमें सर्वत्र प्रतिष्ठा रहती है (६४)। जो नय स्यात्पदरूप सत्यसे चिह्नित हैं वे रसोपविद्ध लोह-धातुओंकी तरह अभिप्रेत फलको फलते हैं—यथास्थित वस्तुतत्त्वके प्ररूपणमें समर्थ होकर सन्मार्गपर ले जाते हैं (६५)।

(१४) मोह पिशाच, जिसका शरीर अनन्त दोषोंका आधार है और जो चिरकालसे आत्माके साथ सम्बद्ध होकर उसपर अपना आतङ्क जमाए हुए है, तत्त्वश्रद्धामें प्रसन्नता धारण करनेसे जीता जाता है (६६)। कषाय पीडनशील शत्रु हैं, उनका नाम निःशेष करनेसे—आत्माके साथ उनका सम्बन्ध पूर्णतः विच्छेद कर देनेसे—मनुष्य अशेषवित् (सर्वज्ञ) होता है। कामदेव विशेष रूपसे शोषक-संतापक एक रोग है, जिसे समाधिरूप औषधके गुणोंसे विलीन किया जाता है (६७)। तृष्णा नदी परिश्रम-जलसे भरी है और उसमें भयरूप तरंग मालाएँ उठती हैं। वह नदी अपरिग्रहरूप ग्रीष्मकालीन सूर्यकी किरणोंसे सुखाई जाती है—परिग्रहके संयोगसे वह उत्तरोत्तर बढ़ा करती है (६८)।

(१५) तपश्चरणरूप अग्नियोंसे कर्मवन जलाया जाता है और शाश्वत सुख प्राप्त किया जाता है (७१)।

(१६) दयामूर्ति बननेसे पापकी शांति होती है ७६; समाधिचक्रसे दुर्जय मोहचक्र—मोहनीय कर्मका मूलोत्तर-प्रकृति-प्रपंच—जीता जाता है ७७; कर्म-परतंत्र न रहकर आत्मतन्त्र बनने पर आर्हन्त्य-लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है ७८; ध्यानोन्मुख होनेपर कृतान्त(कर्म)चक्र जीता जाता है ७९; अपने राग-द्वेष-काम-क्रोधादि दोष-विकार ही आत्मामें अशान्तिके कारण हैं, जो अपने दोषोंको शान्त कर आत्मामें शान्तिकी प्रतिष्ठा करनेवाला

होता है वही शरणागतोंके लिये शान्तिका विधाता होता है और इसलिये जिसके आत्मामें स्वयं शान्ति नहीं वह शरणागतके लिये शान्तिका विधाता भी नहीं हो सकता ८० ।

(१७) जिनदेव कुन्थ्वादि सब प्राणियोंपर दयाके अनन्य विस्तारको लिये हुए होते हैं और उनका धर्मचक्र ज्वर-जरा-मरणकी उपशान्तिके लिए प्रवर्तित होता है (८१)। तृष्णा (विषयाकांक्षा) रूप अग्नि-ज्वालाएँ स्वभावसे ही संतापित करती हैं। इनकी शान्ति अभिलषित इन्द्रिय-विषयोंकी सम्पत्तिसे—प्रचुर परिमाणमें सम्प्राप्तिसे—नहीं होती, उलटी वृद्धि ही होती है, ऐसी ही वस्तु-स्थिति है। सेवन किये हुए इन्द्रिय-विषय (मात्र कुछ समयके लिये) शरीरके संतापको मिटानेमें निमित्तमात्र हैं—तृष्णारूप अग्निज्वालाओंको शान्त करनेमें समर्थ नहीं होते (८२)। बाह्य दुर्द्धर तप आध्यात्मिक (अन्तरंग) तपकी वृद्धिके लिये विधेय हैं। चार ध्यानोंमेंसे आदिके दो कलुषित ध्यान (आर्त्त-रौद्र) हेय (त्याज्य) हैं और उत्तरवर्ती दो सातिशय ध्यान (धर्म्य, शुक्ल) उपादेय हैं (८३)। कर्मोंकी (आठ मूल प्रकृतियोंमेंसे) चार मूल प्रकृतियां (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय) कटुक (घातिया) हैं और वे सम्यग्दर्शनादिरूप सातिशय रत्नत्रयाग्निसे भस्म की जाती हैं, उनके भस्म होनेपर ही आत्मा जातवीर्य—शक्तिसम्पन्न अथवा विकसित—होता है और सकल-वेद-विधिका विनेता बनता है (८४)।

(१८)पुण्यकीर्ति मुनीन्द्र(जिनेन्द्र)का नाम-कीर्तन भी पवित्र करता है (८७)। मुमुक्षु होनेपर चक्रवर्तीका सारा विभव और साम्राज्य भी जीर्ण तृणके समान निःसार जान पड़ता है (८८)। कषाय-भटोंकी सेनासे युक्त जो मोहरूप शत्रु है वह पापात्मक

है, उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उपेक्षा (परमौदासीन्य-लक्षण सम्यक् चारित्र) रूप अस्त्र-शस्त्रोंसे जीता जाता है (९०)। जो धीर वीर मोहपर विजय प्राप्त किये होते हैं उनके सामने त्रिलोक-विजयी दुर्द्धर कामदेव भी हतप्रभ हो जाता है (९१)। तृष्णा-नदी इस लोक तथा परलोकमें दुःखोंकी योनि है, उसे निर्दोषज्ञान-नौकासे पार किया जाता है (९२)। रोग और पुनर्जन्म जिसके साथी हैं वह अन्तक (यम) मनुष्योंको रुलानेवाला है; परन्तु मोह-विजयीके सन्मुख उसकी एक भी नहीं चलती (९३)। आभूषणों, वेषों तथा आयुधोंका त्यागी और ज्ञान, कषायेन्द्रिय-जय तथा दयाकी उत्कृष्टताको लिये हुए जो रूप है वह दोषोंके विनिग्रहका सूचक है (९४)। ध्यान-तेजसे आध्यात्मिक (ज्ञानावरणादिरूप भीतरी) अन्धकार दूर होता है। (९५)। सर्वज्ञज्योतिसे उत्पन्न हुआ महिमोदय सभी विवेकी प्राणियोंको नतमस्तक करता है (९६)। सर्वज्ञकी वाणी सर्वभाषाओंमें परिणत होनेके स्वभावको लिये हुए होता है और अमृतके समान प्राणियोंको सन्तुष्ट करती है (९७)।

अनेकान्तदृष्टि सती है—सत्स्वरूप सच्ची है—और उसके विपरीत एकान्तदृष्टि शून्यरूप असती है—सच्ची नहीं है। अतः जो कथन अनेकान्तदृष्टिसे रहित है वह सब मिथ्या कथन है; क्योंकि वह अपना ही—सत् या असत् आदिरूप एकान्तका ही—घातक है—अनेकान्तके बिना एकान्तकी स्वरूप-प्रतिष्ठा बन ही नहीं सकती (९८)।

जो आत्मघाती एकान्तवादी अपने स्वघाति-दोषको दूर करनेमें असमर्थ हैं, स्याद्वादसे द्वेष रखते हैं और यथावत् वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ हैं उन्होंने तत्त्वको अवक्तव्यताको आश्रित

किया है—वस्तुतत्त्व सर्वथा अवक्तव्य है ऐसा प्रतिपादन किया है (१००)।

सत्, असत्, एक, अनेक, नित्य, अनित्य, वक्तव्य और अवक्तव्यरूपमें जो नयपक्ष हैं वे सर्वथ रूपमें तो अतिदूषित हैं—मिथ्यानय हैं—स्वेष्टमें बाधक हैं और स्यात् रूपमें पुष्टिको प्राप्त होते हैं—सम्यक्नय हैं अर्थात् स्वकीय अर्थका निर्बाध-रूपसे प्रतिपादन करनेमें समर्थ हैं (१०१)।

'स्यात्' शब्द सर्वथारूपसे प्रतिपादनके नियमका त्यागी और यथादृष्टको—जिस प्रकार सत् असत् आदि रूपमें वस्तु प्रमाण-प्रतिपन्न है उसको—अपेक्षामें रखनेवाला है। यह शब्द एका-न्तवादियोंके न्यायमें नहीं है। एकान्तवादी अपने वैरी आप हैं (१०२)।

स्याद्वादरूप आर्हत-मतमें सम्यक् एकान्त ही नहीं किन्तु अनेकान्त भी प्रमाण और नय-साधनों (दृष्टियों) को लिये हुए अनेकान्तस्वरूप है, प्रमाणकी दृष्टिसे अनेकान्तरूप और विवक्षित-नयकी दृष्टिसे अनेकान्तमें एकान्तरूप—प्रतिनियत-धर्मरूप—सिद्ध होता है (१०३)।

(१९) अर्हत्प्रतिपादित धर्मतीर्थ संसार-समुद्रसे भयभीत प्राणियोंके लिये पार उतरनेका प्रधान मार्ग है (१०९)। शुक्ल-ध्यानरूप परमतपोग्नि (परम्परासे चले आनेवाले) अनन्त-दुरितरूप कर्माष्टकको भस्म करनेके लिए समर्थ है (११०)।

(२०) 'चर और अचर जगत प्रत्येक क्षणमें ध्रौव्य उत्पाद और व्यय-लक्षणोंको लिए हुए है' यह वचन जिनेन्द्रकी सर्वज्ञता-का चिह्न है (११४)। आठों पापमलरूप कलङ्कोंको (जिन्होंने जीवात्माके वास्तविक स्वरूपको आच्छादित कर रक्खा है)

अनुपम योगबलसे—परमशुक्लध्यानाग्निके तेजसे—भस्म किया जाता है और ऐसा करके ही अभव-सौख्यको—संसारमें न पाए जाने वाले अतीन्द्रिय मोक्ष-सुखको—प्राप्त किया जाता है (११५)।

(२१) साधु स्तोताकी स्तुति कुशल-परिणामकी कारण होती है और उसके द्वारा श्रेयोमार्ग सुलभ होता है (११६)। परमात्म-स्वरूप अथवा शुद्धात्मस्वरूपमें चित्तको एकाग्र करनेसे जन्मनिगडको समूल नष्ट किया जाता है (११७)।

वस्तुतत्त्व बहुत नयोंकी विवक्षाके वशसे विधेय, प्रतिषेध्य, उभय, अनुभय तथा मिश्रभंग—विधेयानुभय, प्रतिषेध्यानुभय और उभयाऽनुभय—रूप है उसके अपरिमित विशेषों (धर्मों) मेंसे प्रत्येक विशेष सदा एक दूसरेकी अपेक्षाको लिए रहता है और सप्तभङ्गके नियमको अपना विषय किये रहता है (११८)। अहिंसा परमब्रह्म है। जिस आश्रमविधिमें अणुमात्र भी आरम्भ न हो वहीं अहिंसाकी पूर्णप्रतिष्ठा होती है—अन्यत्र नहीं। अहिंसा परमब्रह्मकी सिद्धिके लिए उभय प्रकारके परिग्रहका त्याग आवश्यक है। जो स्वाभाविक वेषको छोड़कर विकृतवेष तथा उपाधिमें रत होते हैं उनसे परिग्रहका वह त्याग नहीं बनता (११९)। मनुष्यके शरीरका इन्द्रियोंकी शान्तताको लिए हुए आभूषण, वेष तथा (वस्त्र प्रावरणादिरूप) व्यवधानसे रहित अपने प्राकृतिक (दिगम्बर) रूपमें होना और फलतः काम-क्रोधका पासमें न फटकना निर्मोही होनेका सूचक है और जो निर्मोही होता है वही शान्ति-सुखका स्थान होता है (१२०)।

(२२) परमयोगरूप शुक्लध्यानाग्निसे कल्मषेन्धनको—ज्ञानावरणादिरूप कर्मकाष्ठको—भस्म किया जाता है, उसके भस्म

होते ही ज्ञानकी विपुलकिरणें प्रकट होती हैं, जिनसे सकल जगतको प्रतिबुद्ध किया जाता है (१२१)। और ऐसा करके ही अनवद्य (निर्दोष) विनय और दमरूप तीर्थका नायकत्व प्राप्त होता है (१२२)। केवलज्ञान-द्वारा अखिलविश्वको युगपत् कर-तलामलकवत जाननेमें बाह्यकरण चक्षुरादिक इन्द्रियां और अन्तःकरण मन ये अलग अलग तथा दोनों मिलकर भी न तो कोई बाधा उत्पन्न करते हैं और न किसी प्रकारका उपकार ही सम्पन्न करते हैं (१३०)

(२३) जो योगनिष्ठ महामना होते हैं वे घोर उपद्रव आनेपर भी पार्श्वजिनके समान अपने उस योगसे चलायमान नहीं होते (१३१)। अपने योग (शुक्लध्यान) रूप खड्गकी तीक्ष्ण-धारसे दुर्जय मोहशत्रुका घात करके वह आर्हन्त्यपद प्राप्त किया जाता है जो अचिन्त्य है, अद्भुत है और त्रिलोककी पूजा-तिशयका स्थान है (१३३)। जो समग्रधी (सर्वज्ञ) सच्ची विद्याओं तथा तपस्याओंका प्रणायक और मिथ्या दर्शनादिरूप कुमार्गोंकी दृष्टियोंसे उत्पन्न होने वाले विभ्रमोंका विनाशक होता है वह सदा वन्दनीय होता है (१३४)।

(२४) गुण-समुत्थ-कीर्ति शोभाका कारण होती है (१३६)। जिनेन्द्र-गुणोंमें जो अनुशासन प्राप्त करते हैं—उन्हें अपने आत्मामें विकसित करनेके लिये आत्मीय दोषोंको दूर करनेका पूर्ण प्रयत्न करते हैं—वे विगत-भव होते हैं—संसार परिभ्रमणसे सदाके लिए छूट जाते हैं। दोष चाबुककी तरह पीडनशील हैं (१३७)।

'स्यात्' शब्द-पुरस्सर कथनको लिए हुए जो 'स्याद्वाद' है—अनेकान्ता-त्मक प्रवचन है—वह निर्दोष है; क्योंकि दृष्ट

(प्रत्यक्ष) और इष्ट (आगमादिक) प्रमाणोंके साथ उसका कोई विरोध नहीं है। 'स्यात्' शब्द-पूर्वक कथनसे रहित जो सर्वथा एकान्तवाद है वह निर्दोष प्रवचन नहीं है; क्योंकि दृष्ट और इष्ट दोनोंके विरोधको लिए हुए है—प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित ही नहीं किन्तु अपने इष्ट अभिमतको भी बाधा पहुँचाता है और उसे किसी तरह भी सिद्ध एवं प्रमाणित करनेमें समर्थ नहीं होता (१३८)।

वीरजिनेन्द्रका स्याद्वादरूप शासन (प्रवचन-तीर्थ) श्री-सम्पन्न है—हेयोपादेय-तत्त्व-परिज्ञान-लक्षण-लक्ष्मीसे विभूषित है—निष्कपट यम (अहिंसादि महाव्रतोंके अनुष्ठान) और दम (इन्द्रिय-जय तथा कषाय-निग्रह) की शिक्षाको लिए हुए है, नयोंके भङ्गरूप अथवा भक्तिरूप अलङ्कारोंसे अलंकृत है, यथार्थ-वादिता एवं परहित प्रतिपादनतादिक बहुगुण-सम्पत्तिसे युक्त है; पूर्ण है और सब ओरसे भद्ररूप है—कल्याणकारी है (१४१, (१४३)।

तत्त्वज्ञान-विषयक ज्ञानयोगकी इन सब बातोंके अलावा २४ स्तवनोंमें तीर्थङ्कर अर्हन्तोंके गुणोंका जो परिचय पाया जाता है और जिसे प्रायः अर्हद्विशेषण-पदोंमें समाविष्ट किया गया है वह सब भी ज्ञानयोगसे सम्बन्ध रखता है। उन अर्हद् गुणोंका तात्त्विक परिचय प्राप्त करना, उन्हें आत्मगुण समझना और अपने आत्मामें उनके विकासको शक्य जानना यह सब ज्ञाना-भ्यास भी ज्ञानयोगसे भिन्न नहीं है। भक्तियोग-द्वारा उन गुणों-में अनुराग बढाया जाता है और उनकी सम्प्राप्तिकी रुचि एवं इच्छाको अपने आत्मामें एक पूर्ण आदर्शको सामने रखकर जागृत और पुष्ट किया जाता है। यही दोनोंमें भेद है। ज्ञान और

इच्छाके बाद जब प्रयत्न चलता है और तदनुकूल आचरणादिके द्वारा उन गुणोंको आत्मामें विकसित किया जाता है तो वह कर्म-योगका विषय बन जाता है।

इस प्रकार ग्रन्थगत चौवीस स्तवनोंमें अलग-अलग रूपसे जो ज्ञानयोग-विषयक तत्त्वज्ञान भरा हुआ है वह सब अर्हद्गुणों-की तरह वीरजिनेन्द्रका तत्त्वज्ञान है, ऐसा समझना चाहिए। वीर-वाणीमें ही वह प्रकट हुआ है और वीरका ही प्रवचनतीर्थ इस समय प्रवर्तित है। इससे वीर-शासन और वीरके तत्त्वज्ञानकी कितनी ही सार बातोंका परिचय सामने आजाता है, जिनसे उनकी महत्ताको भले प्रकार आँका जा सकता है, साथ ही आत्म-विकासकी तय्यारीके लिए एक समुचित आधार भी मिलजाता है।

वस्तुतः ज्ञानयोग भक्तियोग और कर्मयोग दोनोंमें सहायक है और सामान्य-विशेषादिकी दृष्टिसे कभी उनका साधक होता है तो कभी उनके द्वारा साध्य भी बन जाता है। जैसे सामान्यज्ञानसे भक्तियोगादिक यदि प्रारम्भ होता है तो विशेषज्ञानका उनके द्वारा उपार्जन भी किया जाता है। ऐसी ही स्थिति दूसरे योगोंकी है, और इसीसे एकको दूसरे योगके साथ सम्बन्धित बतलाया गया है—मुख्य-गौणकी व्यवस्थासे ही उनका व्यवहार चलता है। एक योग जिस समय मुख्य होता है उस समय दूसरे योग गौण होते हैं—उन्हें सर्वथा छोड़ा नहीं जाता। तीनोंके परस्पर सहयोगसे ही आत्माका पूर्ण विकास सधता अथवा सिद्ध होता है।

कर्म-योग

मन-वचन-काय-सम्बन्धी जिस क्रियाकी प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिसे आत्म-विकास सधता है उसके लिये तदनुरूप जो भी पुरुषार्थ किया जाता है, उसे 'कर्मयोग' कहते हैं। और इसलिये

कर्मयोग दो प्रकारका है—एक क्रियाकी निवृत्तिरूप पुरुषार्थको लिये हुए और दूसरा क्रियाकी प्रवृत्तिरूप पुरुषार्थको लिये हुए। निवृत्ति-प्रधान कर्मयोगमें मन-वचन-कायमेंसे किसीकी भी क्रिया-का, तीनोंकी क्रियाका अथवा अशुभ क्रियाका निरोध होता है। और प्रवृत्तिप्रधान कर्मयोगमें शुभ कर्मोंमें त्रियोग-क्रियाकी प्रवृत्ति होती है—अशुभमें नहीं; क्योंकि अशुभ कर्म विकासमें साधक न होकर बाधक होते हैं। राग-द्वेषादिसे रहित शुद्धभावरूप प्रवृत्ति भी इसीके अन्तर्गत है। सच पूछिये तो प्रवृत्ति विना निवृत्तिके और निवृत्ति विना प्रवृत्तिके होती ही नहीं—एकका दूसरेके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों मुख्य-गौणकी व्यवस्थाको लिये हुए हैं। निवृत्तियोगमें प्रवृत्तिकी और प्रवृत्तियोगमें निवृत्तिकी गौणता है। सर्वथा प्रवृत्ति या सर्वथा निवृत्तिका एकान्त नहीं बनता। और इसलिये ज्ञानयोगमें जो बातें किसी-न-किसी रूपसे विधेय ठहराई गई हैं, उचित तथा आवश्यक बतलाई गई हैं अथवा जिनका किसी भी तीर्थङ्करके द्वारा स्व-विकासके लिये किया जाना विहित हुआ है उन सबका विधान एवं अनुष्ठान कर्मयोगमें गर्भित है। इसी तरह जिन बातोंको दोषादिकके रूपमें हेय बतलाया गया है, अविधेय तथा अकरणीय सूचित किया गया है अथवा किसी भी तीर्थङ्करके द्वारा जिनका छोड़ना-तजना या उनसे विरक्ति धारण करना आदि कहा गया है उन सबका त्याग एवं परिहार भी कर्मयोगमें दाखिल (शामिल) है। और इसलिये कर्मयोग-सम्बन्धी उन सब बातोंको पूर्वोल्लिखित ज्ञान-योगसे ही जान लेना और समझ लेना चाहिये। उदाहरणके तौरपर प्रथम-जिन-स्तवनके ज्ञानयोगमें ममत्वसे विरक्त होना, वधू-वित्तादि परिग्रहका त्याग करके जिन-दीक्षा लेना, उपसर्ग-परीषहोंका समभावसे सहना और सद्व्रत-नियमोंसे चलायमान

न होना-जैसी जिन बातोंको पूर्ण विकासके लिये आवश्यक बतलाया गया है उनका और उनकी इस आवश्यकताका परिज्ञान ज्ञानयोगसे सम्बन्ध रखता है; और उनपर अमल करना तथा उन्हें अपने जीवनमें उतारना यह कर्मयोगका विषय है। साथ ही, 'अपने दोषोंके मूलकारणको अपने ही समाधितेजसे भस्म किया जाता है' यह जो विधिवाक्य दिया गया है इसके मर्मको समझना, इसमें उल्लिखित दोषों, उनके मूलकारणों, समाधितेज और उसकी प्रक्रियाको मालूम करके अनुभवमें लाना, यह सब ज्ञानयोगका विषय है और उन दोषों तथा उनके कारणोंको उस प्रकारसे भस्म करनेका जो प्रयत्न, अमल अथवा अनुष्ठान है वह सब कर्मयोग है। इसी तरह अन्य स्तवनोंके ज्ञानयोगमेंसे भी कर्मयोग-सम्बन्धी बातोंका विश्लेषण करके उन्हें अलगसे समझ लेना चाहिये, और यह बहुत कुछ सुख-साध्य है। इसीसे उन्हें फिरसे यहां देकर प्रस्तावनाको विस्तार देनेकी जरूरत नहीं समझी गई। हाँ, स्तवन-क्रमको छोड़कर, कर्मयोगका उसके आदि-मध्य और अन्तकी दृष्टिसे एक संक्षिप्त सार यहां दे देना उचित जान पड़ता है और वह पाठकोंके लिए विशेष हितकर तथा रुचिकर होगा। अतः सारे ग्रन्थका दोहन एवं मथन करके उसे देनेका आगे प्रयत्न किया जाता है। ग्रन्थके स्थलोंकी यथावश्यक सूचना ब्रेकटके भीतर पद्याङ्कोंमें रहेगी।

कर्मयोगका आदि-मध्य और अन्त

कर्मयोगका चरम लक्ष्य है आत्माका पूर्णतः विकास। आत्माके इस पूर्ण विकासको ग्रन्थमें—ब्रह्मपदप्राप्ति (४), ब्रह्मनिष्ठावस्था, आत्मलक्ष्मीकी लब्धि, जिनश्री तथा आर्हन्त्यलक्ष्मीकी प्राप्ति (१०, ७८), आर्हन्त्य-पदावाप्ति (१३३), आत्यन्तिक

स्वास्थ्य = स्वात्मस्थिति (३१), आत्म-विशुद्धि (४८), कैवल्योपलब्धि (४५), मुक्ति, विमुक्ति (२७), निर्वृति (५०, ६८), मोक्ष (६०, ७३, ११७), श्रायस (११६), श्रेयस् (४१, ७५), निःश्रेयस (५०), निरंजना शान्ति (१२), उच्चशिवताति (१५), शाश्वतशर्मावाप्ति (७१), भवक्लेश-भयोपशान्ति (८०) और भवोपशान्ति तथा अभव-सौख्य-संप्राप्ति (११५), जैसे पद-वाक्यों अथवा नामोंके द्वारा उल्लिखित किया है। इनमेंसे कुछ नाम तो शुद्धस्वरूपमें स्थितिपरक अथवा प्रवृत्तिपरक हैं, कुछ पररूपसे निवृत्तिके द्योतक हैं और कुछ उस विकासावस्थामें होनेवाले परम शान्ति-सुखके सूचक हैं। 'जिनश्री' पद उपमालंकारकी दृष्टिसे 'आत्मलक्ष्मी' का ही वाचक है; क्योंकि घातिकर्ममलसे रहित शुद्धात्माको अथवा आत्मलक्ष्मीके सातिशय विकासको प्राप्त आत्माको ही 'जिन' कहते हैं। 'जिनश्री' का ही दूसरा नाम 'निजश्री'[१] है। 'जिन' और अर्हन्पद समानार्थक होनेसे आर्हन्त्यलक्ष्मीपद भी आत्मलक्ष्मीका ही वाचक है। इसी स्वात्मोपलब्धिको पूज्यपाद आचार्यने, सिद्धभक्तिमें, 'सिद्धि' के नामसे उल्लेखित किया है[२]।

अपने शुद्धस्वरूपमें स्थितिरूप यह आत्माका विकास ही मनुष्योंका स्वार्थ है—असली स्वप्रयोजन है—क्षणभंगुर भोग—इन्द्रिय-विषयोंका सेवन—उनका स्वार्थ नहीं है; जैसा कि ग्रन्थके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

१ स्तुतिविद्याके पार्श्वजिन-स्तवनमें 'पुरुनिजश्रियं' पदके द्वारा इसी नामका उल्लेख किया गया है।

२ "सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुणगणोच्छादि-दोषापहारात्।"

स्वास्थ्यं यदात्यान्तिकमेष पुंसां
स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा
तृषोऽनुषंगान्न च तापशान्ति-
रितीदमाख्यद्भगवान्सुपार्श्वः ॥३१॥

और इसलिये इन्द्रिय-विषयोंको भोगनेके लिये—उनसे तृप्ति प्राप्त करनेके लिये—जो भी पुरुषार्थ किया जाता है वह इस ग्रन्थके कर्मयोगका विषय नहीं है। उक्त वाक्यमें ही इन भोगोंको उत्तरोत्तर तृष्णाकी—भोगाकांक्षाकी—वृद्धिके कारण बतलाया है, जिससे शारीरिक तथा मानसिक तापकी शान्ति होने नहीं पाती। अन्यत्र भी ग्रन्थमें इन्हें तृष्णाकी अभिवृद्धि एवं दुःख-संतापके कारण बतलाया है तथा यह भी बतलाया है कि इन विषयोंमें आसक्ति होनेसे मनुष्योंको सुखपूर्वक स्थिति नहीं बनती और न देह अथवा देही (आत्मा) का कोई उपकार ही बनता है (१३, १८, २०, ३१, ८२)। मनुष्य प्रायः विषय-सुखकी तृष्णाके वश हुए दिनभर श्रमसे पीड़ित रहते हैं और रातको सो जाते हैं—उन्हें आत्महितकी कोई सुधि ही नहीं रहती (४८)। उनका मन विषय-सुखकी अभिलाषारूप अग्निके दाहसे मूर्छित-जैसा हो जाता है (४७)। इस तरह इन्द्रिय-विषयको हेय बतला-कर उनमें आसक्तिका निषेध किया है, जिससे स्पष्ट है कि वे उस कर्मयोगके विषय ही नहीं जिसका चरम लक्ष्य है आत्माका पूर्णतः विकास।

पूर्णतः आत्मविकासके अभिव्यञ्जक जो नाम ऊपर दिये हैं उनमें मुक्ति और मोक्ष ये दो नाम अधिक लोकप्रसिद्ध हैं और दोनों बन्धनसे छूटनेके एक ही आशयको लिये हुए हैं। मुक्ति

अथवा मोक्षका जो इच्छुक है उसे 'मुमुक्षु' कहते हैं। मुमुक्षु होनेसे कर्मयोगका प्रारम्भ होता है—यही कर्मयोगकी आदि अथवा पहली सीढ़ी है। मुमुक्षु बननेसे पहले उस मोक्षका जिसे प्राप्त करनेकी इच्छा हृदयमें जागृत हुई है, उस बन्धनका जिससे छूटनेका नाम मोक्ष है, उस वस्तु या वस्तु-समूहका जिससे बन्धन बना है, बन्धनके कारणोंका, बन्धन जिसके साथ लगा है उस जीवात्माका, बन्धनसे छूटनेके उपायोंका और बन्धनसे छूटनेमें जो लाभ है उसका अर्थात् मोक्षफलका सामान्य ज्ञान होना अनिवार्य है—उस ज्ञानके बिना कोई मुमुक्षु बन ही नहीं सकता। यह ज्ञान जितना यथार्थ विस्तृत एवं निर्मल होगा अथवा होता जायगा और उसके अनुसार बन्धनसे छूटनेके समीचीन उपायोंको जितना अधिक तत्परता और सावधानीके साथ काममें लाया जायगा उतना ही अधिक कर्मयोग सफल होगा, इसमें विवादके लिये कोई स्थान नहीं है। बन्ध, मोक्ष तथा दोनोंके कारण, बद्ध, मुक्त और मुक्तिका फल इन सब बातोंका कथन यद्यपि अनेक मतोंमें पाया जाता है परन्तु इनकी समुचित व्यवस्था स्याद्वादी अर्हन्तोंके मतमें ही ठीक बैठती है, जो अनेकान्तदृष्टिको लिये होता है। सर्वथा एकान्तदृष्टिको लिये हुए नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्वादि एकान्तपक्षोंके प्रतिपादक जो भी मत हैं, उनमेंसे किसीमें भी इनकी समुचित व्यवस्था नहीं बनती। इसी बातको ग्रन्थकी निम्न कारिकामें व्यक्त किया गया है—

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्चहेतू
बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।

स्याद्वादिनो नाथ ! तवैव युक्तं
नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥१४॥

और यह बात बिल्कुल ठीक है। इसको विशेष रूपमें सुमति-जिन आदिके स्तवनोंमें पाये जानेवाले तत्त्वज्ञानसे, जिसे ऊपर ज्ञानयोगमें उद्धृत किया गया है, और स्वामी समन्तभद्रके देवागम तथा युक्त्यनुशासन-जैसे ग्रन्थोंके अध्ययनसे और दूसरे भी जैनागमोंके स्वाध्यायसे भले प्रकार अनुभूत किया जा सकता है। अस्तु।

प्रस्तुत ग्रन्थमें बन्धनको 'अचेतनकृत' (१७) बतलाया है और उस अचेतनको जिससे चेतन (जीव) बंधा है 'कर्म' (७१, ८४) कहा है, 'कृतान्त' (७६) नाम भी दिया है और दुरित (१०५, ११०), दुरिताञ्जन (५७), दुरितमल (११५), कल्मष (१२१) तथा 'दोषमूल' (४) जैसे नामोंसे भी उल्लेखित किया है। वह कर्म अथवा दुरितमल आठ प्रकारका (११५) है—आठ उसकी मूल प्रकृतियाँ हैं, जिनके नाम हैं—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ मोहनीय (मोह), ४ अन्तराय, ५ वेदनीय, ६ नाम, ७ गोत्र, ८ आयु। इनमेंसे प्रथम चार प्रकृतियाँ कटुक (८४) हैं—बड़ी ही कड़वी हैं, आत्माके स्वरूपको घात करनेवाली हैं और इसलिये उन्हें 'घातिया' कहा जाता है, शेष चार प्रकृतियां 'अघातिया' कहलाती हैं। इन आठों जड़ कर्ममलोंके अनादि सम्बन्धसे यह जीवात्मा मलिन, अपवित्र, कलंकित, विकृत और स्वभावसे च्युत होकर विभावपरिणतिरूप परिणम रहा है; अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभादिक असंख्य-अनन्त दोषोंका क्रीड़ास्थल बना हुआ है, जो तरह तरहके नाच नचा रहे हैं; और इन दोषोंके नित्यके ताण्डव एवं

उपद्रवसे सदा अशान्त, उद्विग्न अथवा बेचैन बना रहता है और और उसे कभी सच्ची सुख-शान्ति नहीं मिल पाती। इन दोषोंकी उत्पत्तिका प्रधान कारण उक्त कर्ममल है, और इसीसे उसे 'दोष-मूल' कहा गया है। वह पुद्गलद्रव्य होनेसे 'द्रव्यकर्म' भी कहा जाता है और उसके निमित्तसे होनेवाले दोषोंको 'भावकर्म' कहते हैं। इन द्रव्य-भाव-रूप उभय प्रकारके कर्मोंका सम्बन्ध जब आत्मासे नहीं रहता—उसका पूर्णतः विच्छेद हो जाता है—तभी आत्माको असली सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है और उसके प्रायः सभी गुण विकसित हो उठते हैं। यह सुख-शान्ति आत्मा-में बाहरसे नहीं आती और न गुणोंका कोई प्रवेश ही बाहरसे होता है, आत्माकी यह सब निजी सम्पत्ति है जो कर्ममलके कारण आच्छादित और विलुप्तसी रहती है और उस कर्ममलके दूर होते ही स्वतः अपने असली रूपमें विकासको प्राप्त हो जाती है। अतः इस कर्ममलको दूर करना अथवा जलाकर भस्म कर देना ही कर्मयोगका परम पुरुषार्थ है। वह परमपुरुषार्थ योग-बलका सातिशय प्रयोग है, जिसे 'निरुपमयोगबल' लिखा है और जिसके उस प्रयोगसे समूचे कर्ममलको भस्म करके उस अभव-सौख्यको प्राप्त करनेकी घोषणा की गई है जो संसारमें नहीं पाया जाता (११५)। इस योगके दूसरे प्रसिद्ध नाम प्रशस्त (सातिशय) ध्यान (८३), शुक्लध्यान (११०) और समाधि (४,७७) हैं। कर्म-दहन-गुण-सम्पन्न होनेसे इस योग, ध्यान अथवा समाधिको, जो कि एक प्रकारका तप है, अग्नि (तेज) कहा गया है[१]। इसी अग्निमें उक्त पुरुषार्थ-द्वारा कर्ममलको जलाया जाता है, जैसा कि ग्रन्थके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

१ कर्म-छेदनकी शक्तिसे भी सम्पन्न होनेके कारण इन योगादिकको कहीं कहीं खड्ग तथा चक्रकी भी उपमा दी गई है। यथा :—

स्व-दोष-मूलं स्व-समाधि-तेजसा
निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् (४)।
कर्म-कक्षमदहत्तपोऽग्निभिः (७१)।
ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्तचक्रम् (७९)।
यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्नि-
र्ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत् (११०)।
परमयोग-दहन-हुत-कल्मषेन्धनः (१२१)

यह योगाग्नि क्या वस्तु है ? इसका उत्तर ग्रन्थके निम्न वाक्य-परसे ही यह फलित होता है कि 'योग वह सातिशय अग्नि है जो रत्नत्रयकी एकाग्रताके योगसे सम्पन्न होती है और जिसमें सबसे पहले कर्मोंकी कटुक प्रकृतियोंकी आहुति दी जाती है'—

हुत्वा स्व-कर्म-कटुक-प्रकृतीश्चतस्रो
रत्नत्रयातिशय-तेजसि-जात-वीर्यः। (८४)

'रत्नत्रय' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको कहते हैं; जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके 'रत्नकरण्ड' ग्रन्थमें प्रकट है। इस ग्रन्थमें भी उसके तीनों अङ्गोंका उल्लेख है और वह

"समाधि-चक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जय-मोह-चक्रम (७७)।"
"स्व-योग-निस्त्रिंश-निशात-धारया
निशात्य यो दुर्जय-मोह-विद्विषम (१३३)"

एक स्थानपर समाधिको कर्मरोग-निर्मूलनके लिये 'भैषज्य' (अमोघ-औषधि) की भी उपमा दी गई है—
'विशेषणं मन्मथ-दुर्मदाऽऽमयं समाधि-भैषज्य-गुणैर्व्यलीनयन (६७)'

दृष्टि, संवित् एवं उपेक्षा-जैसे शब्दोंके द्वारा किया गया है (९०)[1], जिनका आशय सम्यग्दर्शनादिकसे ही है। इन तीनोंकी एकाग्रता जब आत्माकी ओर होती है—आत्माका ही दर्शन, आत्माका ही ज्ञान, आत्मामें ही रमण होने लगता है—और परमें आसक्ति छूटकर उपेक्षाभाव आजाता है तब यह अग्नि सातिशयरूपमें प्रज्वलित हो उठती है और कर्म-प्रकृतियोंको सविशेषरूपसे भस्म करने लगती है। यह भस्म-क्रिया इन त्रिरत्न किरणोंकी एकाग्रतासे उसी प्रकार सम्पन्न होती है जिस प्रकार कि सूर्यरश्मियोंको शीशे या काँच-विशेषमें एकाग्र कर शरीरके किसी अङ्ग अथवा वस्त्रादिक पर डाला जाता है तो उनसे वह अङ्गादिक जलने लगता है। सचमुच एकाग्रतामें बड़ी शक्ति है। इधर-उधर बिखरी हुई तथा भिन्नाग्रमुख-शक्तियां वह काम नहीं देतीं जो कि एकत्र और एकाग्र (एकमुख) होकर देती हैं। चिन्ताके एकाग्र-निरोधका नाम ही ध्यान तथा समाधि है। आत्म-विषयमें यह चिन्ता जितनी एकाग्र होती जाती है सिद्धि अथवा स्वात्मोपलब्धि भी उतनी ही समीप आती जाती है। जिस समय इस एकाग्रतासे सम्पन्न एवं प्रज्वलित योगानलमें कर्मोंकी चारों मूल कटुक प्रकृतियाँ अपनी उत्तर और उत्तरोत्तर शाखा-प्रकृतियोंके साथ भस्म हो जाती हैं अथवा यों कहिए कि सारा घाति-कर्ममल जलकर आत्मासे अलग हो जाता है उस समय आत्मा जातवीर्य (परम-शक्तिसम्पन्न) होता है—उसकी अनन्त दर्शन, अनन्त-

[1] 'दृष्टि-संविदुपेक्षाऽस्त्रैस्त्वया धीर पराजितः' इस वाक्यके द्वारा इन्हें 'अस्त्र' भी लिखा है, जो आग्नेयअस्त्र हो सकते हैं अथवा कर्मछेदनकी शक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण खड्गादि जैसे आयुध भी हो सकते हैं।

ज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य नामकी चारों शक्तियां पूर्णतः विकसित हो जाती हैं और सबको देखने-जाननेके साथ साथ पूर्ण-सुख-शान्तिका अनुभव होने लगता है। ये शक्तियाँ ही आत्माकी श्री हैं, लक्ष्मी हैं, शोभा हैं। और यह विकास उसी प्रकारका होता है जिस प्रकारका कि सुवर्ण-पाषाणसे सुवर्णका होता है। पाषाण-स्थित सुवर्ण जिस तरह अग्नि-प्रयोगादिके योग्य साधनोंको पाकर किट्ट-कालिमादि पाषाणमलसे अलग होता हुआ अपने शुद्ध सुवर्णरूपमें परिणत हो जाता है उसी तरह यह संसारी जीव उक्त कर्ममलके भस्म होकर पृथक् होजानेपर अपने शुद्धात्मस्वरूपमें परिणत हो जाता है[1]। घाति-कर्ममलके अभावके साथ प्रादुर्भूत होनेवाले इस विकासका नाम ही 'आर्हन्त्यपद' है जो बड़ा ही अचिन्त्य है, अद्भुत है और त्रिलोककी पूजाके अतिशय (परमप्रकर्ष) का स्थान है (१२३)। इसीको जिनपद, कैवल्यपद तथा ब्रह्मपदादि नामोंसे उल्लेखित किया जाता है।

ब्रह्मपद आत्माकी परम-विशुद्ध अवस्थाके सिवा दूसरी कोई चीज नहीं है। स्वामी समन्तभद्रने प्रस्तुत ग्रन्थमें 'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं' (११९) इस वाक्यके द्वारा अहिंसाको 'परमब्रह्म' बतलाया है और यह ठीक ही है; क्योंकि अहिंसा आत्मामें राग-द्वेष-काम-क्रोधादि दोषोंकी निवृत्ति अथवा

१ सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुण-गुणगणोच्छादिदोषापहारात्।
योग्योपादान-युक्त्या दृषद् इह यथा हेमभावोपलब्धिः ॥१॥
—पूज्यपाद-सिद्धभक्ति

अप्रादुर्भूतिको कहते हैं[1]। जब आत्मामें रागादि-दोषोंका समूलनाश होकर उसकी विभाव-परिणति मिट जाती है और अपने शुद्धस्वरूपमें चर्या होने लगती है तभी उसमें अहिंसाकी पूर्णप्रतिष्ठा कही जाती है, और इसलिये शुद्धात्म-चर्यारूप अहिंसा ही परमब्रह्म है—किसी व्यक्ति विशेषका नाम ब्रह्म तथा परमब्रह्म नहीं है। इसीसे जो ब्रह्मनिष्ठ होता है वह आत्म-लक्ष्मीकी सम्प्राप्तिके साथ साथ 'सम-मित्र-शत्रु' होता तथा 'कषाय-दोषोंसे रहित' होना है; जैसा कि ग्रन्थके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

स ब्रह्मनिष्ठः सम-मित्र-शत्रु-र्विद्या-विनिर्वान्त-कषायदोषः।
लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा जिनश्रियं मे भगवान्विधत्ताम्॥

यहाँ ब्रह्मनिष्ठ अजित भगवानसे 'जिनश्री'की जो प्रार्थना की गई है उससे स्पष्ट है कि 'ब्रह्म' और 'जिन' एक ही हैं, और इसलिये जो 'जिनश्री' है वही 'ब्रह्मश्री' है—दोनोंमें तात्त्विकदृष्टि-से कोई अन्तर नहीं है। यदि अन्तर होता तो ब्रह्मनिष्ठसे ब्रह्मश्रीकी प्रार्थना की जाती, न कि जिनश्रीकी। अन्यत्र भी, वृषभतीर्थ-ङ्करके स्तवन (४) में जहां 'ब्रह्मपद' का उल्लेख है वहां उसे 'जिनपद' के अभिप्रायसे सर्वथा भिन्न न समझना चाहिये। वहां अगले ही पद्य (५) में उन्हें स्पष्टतया 'जिन' रूपसे उल्लेखित भी किया है। दोनों पदोंमें थोड़ासा दृष्टिभेद है—'जिन' पद कर्मके निषेधकी दृष्टिको लिये हुए है और 'ब्रह्म' पद स्वरूपमें अवस्थिति अथवा प्रवृत्तिकी दृष्टिको प्रधान किये हुए

1. अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥
पुरुषार्थसिद्ध्युपाये, अमृतचन्द्रः।

है। कर्मके निषेधविना स्वरूपमें प्रवृत्ति नहीं बनती और स्वरूपमें प्रवृत्तिके विना कर्मका निषेध कोई अर्थ नहीं रखता। विधि और निषेध दोनोंमें परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है—एकके विना दूसरेका अस्तित्व ही नहीं बनता, यह बात प्रस्तुत ग्रन्थमें खूब स्पष्ट करके समझाई गई है। अतः संज्ञा अथवा शब्द-भेदके कारण सर्वथा भेदकी कल्पना करना न्याय-संगत नहीं है। अस्तु।

जब घाति-कर्ममल जलकर अथवा शक्तिहीन होकर आत्मासे बिल्कुल अलग हो जाता है तब शेष रहे चारों अघातियाकर्म, जो पहले ही आत्माके स्वरूपको घातनेमें समर्थ नहीं थे, पृष्ठबलके न रहनेपर और भी अधिक अघातिया हो जाते एवं निर्बल पड़ जाते हैं और विकसित आत्माके सुखोपभोग एवं ज्ञानादिककी प्रवृत्तिमें जरा भी अड़चन नहीं डालते। उनके द्वारा निर्मित, स्थित और संचालित शरीर भी अपने बाह्यकरण-स्पर्शनादिक इन्द्रियों और अन्तःकरण—मनके साथ उसमें कोई बाधा उपस्थित नहीं करता और न अपने उभयकरणोंके द्वारा कोई उपकार ही सम्पन्न करता है[१]। उन अघातिया प्रकृतियोंका नाश उसी पर्यायमें अवश्यंभावी होता है—आयुकर्मकी स्थिति पूरी होते होते अथवा पूरी होनेके साथ साथ ही वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मकी प्रकृतियाँ भी नष्ट हो जाती हैं अथवा योग-निरोधादिके द्वारा सहजमें ही नष्ट कर दी जाती हैं। और इसलिये जो घातियाकर्म प्रकृतियोंका नाश कर आत्मलक्ष्मीको प्राप्त होता है उसका आत्मविकास प्रायः पूरा ही हो जाता है, वह

१. जैसाकि ग्रन्थगत स्वामीसमन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है—
बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नाऽर्थकृत् ।
नाथ! युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलामलकवद्विवेदिथ ॥१२९॥

शरीर-सम्बन्धको छोड़कर अन्य सब प्रकारसे मुक्त होता है और इसीसे उसे 'जीवन्मुक्त' या 'सदेहमुक्त' कहते हैं—'सकलपरमात्मा' भी उसका नाम इसी शारीरिक दृष्टिको लेकर है। उसके उसी भावसे मोक्ष प्राप्त करना, विदेहमुक्त होना और निष्कल परमात्मा बनना असन्दिग्ध तथा अनिवार्य हो जाता है—उसकी इस सिद्धपद-प्राप्तिको फिर कोई रोक नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें यह स्पष्ट है कि घाति-कर्ममलको आत्मासे सदाके लिये पृथक् कर देना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है और इस लिये कर्मयोगमें सबसे अधिक महत्त्व इसीको प्राप्त है। इसके बाद जिस अन्तिम समाधि अथवा शुक्लध्यानके द्वारा अवशिष्ट अघातिया कर्मप्रकृतियोंका मूलतः विनाश किया जाता है और सकलकर्मसे विमुक्तिरूप मोक्षपदको प्राप्त किया जाता है उसके साथ ही कर्मयोगकी समाप्ति हो जाती है और इसलिए उक्त अन्तिम समाधि ही कर्मयोगका अन्त है, जिसका प्रारम्भ 'मुमुक्षु' बननेके साथ साथ होता है।

अब कर्मयोगके 'मध्य' पर विचार करना है, जिसके आश्रय-बिना कर्मयोगकी अन्तिम तथा अन्तसे पूर्वकी अवस्थाको कोई अवसर ही नहीं मिल सकता और न आत्माका उक्त विकास ही सध सकता है।

मोक्ष-प्राप्तिकी सदिच्छाको लेकर जब कोई सच्चा मुमुक्षु बनता है तब उसमें बन्धके कारणोंके प्रति अरुचिका होना स्वाभाविक हो जाता है। मोक्षप्राप्तिकी इच्छा जितनी तीव्र होगी बन्ध तथा बन्ध-कारणोंके प्रति अरुचि भी उसकी उतनी ही बढ़ती जायगी और वह बन्धनोंको तोड़ने, कम करने, घटाने एवं बन्ध कारणोंको मिटानेके समुचित प्रयत्नमें लग जायगा, यह भी स्वाभाविक है। सब से बड़ा बन्धन और दूसरे बन्धनोंका प्रधान कारण 'मोह'

है। इस मोहका बहुत बड़ा परिवार है। दृष्टि-विकार (मिथ्यात्व), ममकार, अहंकार, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय, और घृणा (जुगुप्सा) ये सब उस परिवार के प्रमुख अंग हैं अथवा मोहके परिणाम-विशेष हैं, जिनके उत्तरोत्तर भेद तथा प्रकार असंख्य हैं। इन्हें अन्तरंग तथा आभ्यन्तर परिग्रह भी कहते हैं। इन्होंने भीतरसे जीवात्माको पकड़ तथा जकड़ रक्खा है। ये ग्रहकी तरह उसे चिपटे हुए हैं और अनन्त दोषों, विकारों एवं आपदाओंका कारण बने हुए हैं। इसीसे ग्रन्थमें मोहको अनन्त दोषोंका घर बतलाते हुए उस ग्राहकी उपमा दी गई है जो चिरकालसे आत्माके साथ संलग्न है—चिपटा हुआ है[1]। साथ ही उसे वह पापी शत्रु बतलाया है जिसके क्रोधादि कषाय सुभट हैं (६५)। इस मोहसे पिण्ड छुडाने के लिये उसके अंगोंको जैसे तैसे भंग करना, उन्हें निर्बल-कमजोर बनाना, उनकी आज्ञामें न चलना अथवा उनके अनुकूल परिणमन न करना जरूरी है।

सबसे पहले दृष्टिविकारको दूर करने की जरूरत है। यह महा-बन्धन है, सर्वोपरि बन्धन है और इसके नीचे दूरे बन्धन छिपे रहते हैं। दृष्टिविकारकी मौजूदगीमें यथार्थ वस्तुतत्त्वका परिज्ञान ही नहीं हो पाता—बन्धन बन्धनरूपमें नजर नहीं आता और न शत्रु शत्रुके रूपमें दिखाई देता है। नतीजा यह होता है कि हम बन्धनको बन्धन न समझ कर उसे अपनाए रहते हैं, शत्रुको मित्र मानकर उसकी आज्ञामें चलते रहते हैं और हानिकरको हितकर समझनेकी भूल करके निरन्तर दुःखों तथा कष्टोंके चक्कर में पड़े रहते हैं—कभी निराकुल एवं सच्चे शान्तिसुखके उपभोक्ता नहीं हो पाते। इस दृष्टि-विकारको दूर

१ अनन्त दोषाशय-विग्रहो ग्रहो विषंगवान्मोहमयश्चिरं हृदि (६६)।

करनेके लिये 'अनेकान्त' का आश्रय लेना परम आवश्यक है। अनेकान्त ही इस महारोगकी अमोघ औषधि है। अनेकान्त ही इस दृष्टिविकारके जनक तिमिर-जालको छेदनेकी पैनी छैनी है। जब दृष्टिमें अनेकान्त समाता है—अनेकान्तमय अंजनादिक अपना काम करता है—तब सब कुछ ठीक ठीक नजर आने लगता है। दृष्टिमें अनेकान्तके संस्कार विना जो कुछ नजर आता है वह सब प्रायः मिथ्या, भ्रमरूप तथा अवास्तविक होता है। इसीसे प्रस्तुत ग्रन्थमें दृष्टिविकारको मिटानेके लिये अनेकान्तकी खास तौरसे योजना की गई है—उसके स्वरूपादिकको स्पष्ट करके बतलाया गया है, जिससे उसके ग्रहण तथा उपयोगादिकमें सुविधा हो सके। साथ ही, यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि जिस दृष्टिका आत्मा अनेकान्त है—जो दृष्टि अनेकान्त-से संस्कारित अथवा युक्त है—वह सती सच्ची अथवा समीचीन दृष्टि है, उसीके द्वारा सत्यका दर्शन होता है, और जो दृष्टि अनेकन्तात्मक न हो कर सर्वथा एकान्तात्मक है वह असती झूठी अथवा मिथ्यादृष्टि है और इसलिये उसके द्वारा सत्यका दर्शन न होकर असत्यका ही दर्शन होता है। वस्तुतत्त्वके अनेकान्तात्मक होनेसे अनेकान्तके विना एकान्तकी स्वरूप-प्रतिष्ठा बन ही नहीं सकती[1]। अतः सबसे पहले दृष्टिविकारपर प्रहार कर उसका सुधार करना चाहिये और तदनन्तर मोहके दूसरे अंगोंपर, जिन्हें दृष्टि-विकारके कारण अभी तक अपना सगा समझकर अपना रक्खा था, प्रतिपक्ष भावनाओंके बलपर अधिकार करना चाहिये—उनसे शत्रु जैसा व्यवहार कर

१ अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥९८॥

उन्हें अपने आत्मनगरसे निकाल बाहर करना चाहिये अथवा यों कहिये कि क्रोधादिरूप न परिणमनेका दृढ संकल्प करके उनके बहिष्कारका प्रयत्न करना चाहिये। इसीको अन्तरंग परिग्रहका त्याग कहते हैं।

अन्तरंग परिग्रहको जिसके द्वारा पोषण मिलता है वह बाह्य परिग्रह है और उसमें संसारकी सभी कुछ सम्पत्ति और विभूति शामिल है। इस बाह्य सम्पत्ति एवं विभूतिके सम्पर्कमें अधिक रहनेसे रागादिककी उत्पत्ति होती है, ममत्व-परिणामको अवसर मिलता है, रक्षण वर्द्धन और विघटनादि-सम्बन्धी अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ तथा आकुलताएँ घेरे रहती हैं, भय बना रहता है, जिन सबके प्रतिकारमें काफी शक्ति लगानी पड़ती है तथा आरम्भ जैसे सावद्य कर्म करने पड़ते हैं और इस तरह उक्त सम्पत्ति एवं विभूतिका मोह बढ़ता रहता है। इसीसे इस सम्पत्ति एवं विभूतिको बाह्य परिग्रह कहा गया है। मोहके बढ़नेका निमित्त होनेसे इन बाह्य पदार्थोंके साथ अधिक सम्पर्क नहीं बढ़ाना चाहिये, आवश्यकतासे अधिक इनका संचय नहीं करना चाहिये। आवश्यकताओंको भी बराबर घटाते रहना चाहिये। आवश्यकताओंकी वृद्धि बन्धनोंकी ही वृद्धि है ऐसा समझना चाहिये और आवश्कतानुसार जिन बाह्य चेतन-अचेतन पदार्थोंके साथ सम्पर्क रखना पड़े उनमें भी आसक्तिका भाव तथा ममत्व-परिणाम नहीं रखना चाहिये। यही सब बाह्य परिग्रहका एकदेश और सर्वदेश त्याग है। एकदेश त्याग गृहस्थियोंके लिये और सर्वदेश त्याग मुनियोंके लिये होता है।

इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंके पूर्ण त्याग-बिना वह समाधि नहीं बनती जिससे चारों घातिया कर्मप्रकृतियोंको भस्म किया

जाता है[1] और न उस अहिंसाकी सिद्धि ही होती है जिसे 'परम-ब्रह्म' बतलाया गया है[2]। अतः समाधि और अहिंसा परमब्रह्म दोनोंकी सिद्धिके लिये—दोनों प्रकारके परिग्रहोंका, जिन्हें 'ग्रन्थ' नामसे उल्लेखित किया जाता है, त्याग करके नैर्ग्रन्थ्य-गुण अथवा अपरिग्रह-व्रतको अपनानेकी बड़ी जरूरत होती है। इसी भावको निम्न दो कारिकाओंमें व्यक्त किया गया है—

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान्दयावधूं क्षान्तिसखीमशिश्रियत्।
समाधितंत्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चाऽयुजत् ॥१६॥

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सा तत्राऽऽरम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।

---

१ इसी बातको लेकर विप्रवंशाग्रणी श्रीपात्रकेशरी स्वामीने, जो स्वामी समन्तभद्रके 'देवागम'को प्राप्त करके जैनधर्ममें दीक्षित हुए थे, अपने स्तोत्रके निम्न पद्यमें परिग्रही जीवोंकी दशाका कुछ दिग्दर्शन कराते हुए, लिखा है कि 'ऐसे परिग्रहवशवर्ती कलुषात्माओंके परम शुक्लरूप सद्ध्यानता बनती कहां है' ?—

परिग्रहवतां सतां भयमवश्यमापद्यते,
प्रकोप-परिहिंसने च परुषाऽनृत-व्याहृती ।
ममत्वमथ चोरतः स्वमनसश्च विभ्रान्तता,
कुतो हि कलुषात्मनां परमशुक्लसद्ध्यानता ॥४२॥

२ उभय-परिग्रह-वर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति
द्विविध-परिग्रह-वहनं हिंसेति जिन-प्रवचनज्ञाः ॥११८॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाये, अमृतचन्द्रसूरिः

ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं।
भवानेवाऽत्याक्षीन्न च विकृत-वेषोपधिरतः। ११९॥

यह परिग्रह-त्याग उन साधुओंसे नहीं बनता जो प्राकृतिक-वेषके विरुद्ध विकृत वेष तथा उपाधिमें रत रहते हैं। और यह त्याग उस तृष्णा-नदीको सुखानेके लिये ग्रीष्मकालीन सूर्यके समान है, जिसमें परिश्रमरूपी जल भरा रहता है और अनेक प्रकारके भयोंकी लहरें उठा करती है।

दृष्टिविकारके मिटनेपर जब बन्धनोंका ठीक भान हो जाता है, शत्रु-मित्र एवं हितकर-अहितकरका भेद साफ नजर आने लगता है और बन्धनोंके प्रति अरुचि बढ़ जाती है तथा मोक्ष-प्राप्तिकी इच्छा तीव्रसे तीव्रतर हो उठती है तब उस मुमुक्षुके सामने चक्रवर्तीका सारा साम्राज्य भी जीर्ण तृणके समान हो जाता है, उसे उसमें कुछ भी रस अथवा सार मालूम नहीं होता, और इसलिये वह उसमें उपेक्षा धारण कर—बधू वित्तादि सभी सुखरूप समझी जानेवाली सामग्री एवं विभूतिका परित्याग कर—जंगलका रास्ता लेता है और अपने ध्येयकी सिद्धिके लिये अपरिग्रहादि-व्रतस्वरूप 'दिगम्बरी' जिनदीक्षाको अपनाता है—मोक्षकी साधनाके लिये निर्ग्रन्थ साधु बनता है। परममुमुक्षुके इसी भाव एवं कर्तव्यको श्रीवृषभजिन और अरजिनकी स्तुतिके निम्न पद्योंमें समाविष्ट किया गया है :—

विहाय यः सागर-वारिवाससं
वधूमिवेमां वसुधा-वधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान्
प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥३॥

लक्ष्मी-विभव-सर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्रलाञ्छनम् ।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाऽभवत् ॥८८॥

समस्त बाह्य परिग्रह और गृहस्थ-जीवनकी सारी सुख-सुवि-धाओंको त्यागकर साधु-मुनि बनना यह मोक्षके मार्गमें एक बहुत बड़ा कदम उठाना होता है। इस कदमको उठानेसे पहले मुमुक्षु कर्मयोगी अपनी शक्ति और विचार-सम्पत्तिका खूब सन्तुलन करता है और जब यह देखता है कि वह सब प्रकारके कष्टों तथा उपसर्ग-परिषहोंको समभावसे सह लेगा तभी उक्त कदम उठाता है और कदम उठानेके बाद बराबर अपने लक्ष्यकी ओर सावधान रहता एवं बढ़ता जाता है। ऐसा होनेपर ही वह तृतीय-कारिका-में उल्लेखित उन 'सहिष्णु' तथा 'अच्युत' पदोंको प्राप्त होता है, जिन्हें ऋषभदेवने प्राप्त किया था, जब कि दूसरे राजा, जो अपनी शक्ति एवं विचार-सम्पत्तिका कोई विचार न कर भावुकताके वश उनके साथ दीक्षित हो गये थे, कष्ट-परिषहोंके सहनेमें असमर्थ होकर लक्ष्यभ्रष्ट एवं व्रतच्युत हो गये थे।

ऐसी हालतमें इस बाह्य-परिग्रहके त्यागसे पहले और बादको भी मन-सहित पांचों इन्द्रियों तथा क्रोध-लोभादि-कषायोंके दम-नकी—उन्हें जीतने अथवा स्वात्माधीन रखनेकी—बहुत बड़ी जरूरत है। इनपर अपना (Control) होनेसे उपसर्ग-परिषहादि कष्टके अवसरोंपर मुमुक्षु अडोल रहता है, इतना ही नहीं बल्कि बसका त्याग भी भले प्रकार बनता है। और उस त्यागका निर्वाह भी भले प्रकार सधता है। सच पूछिये तो इन्द्रियादिके दमन-बिना—उनपर अपना काबू किये बगैर—सच्चा त्याग बनता ही नहीं, और यदि भावुकताके वश बन भी जाय तो उसका निर्वाह नहीं हो सकता। इसीसे ग्रन्थमें इस दमका महत्त्व

स्थापित करते हुए उसे 'तीर्थ' बतलाया है—संसारसे पार उतरने का उपाय सुझाया है—और 'दम-तीर्थ-नायकः' तथा 'अनवद्य-विनय-दमतीर्थ-नायकः' जैसे पदों-द्वारा जैनतीर्थंकरोंको उस तीर्थ-का नायक बतला कर यह घोषित किया है कि जैनतीर्थंकरोंका शासन इन्द्रिय-कषाय-निग्रहपरक है (१०४,१२२)। साथ ही, यह भी निर्दिष्ट किया है कि वह दम (दमन) मायाचार रहित निष्कपट एवं निर्दोष होना चाहिये—दम्भके रूपमें नहीं (१४१)। इस दम के साथी-सहयोगी एवं सखा (मित्र) हैं यम-नियम, विनय, तप और दया। अहिंसादि व्रतानुष्ठानका नाम 'यम' है। कोई व्रता-नुष्ठान जब यावज्जीवके लिये न होकर परिमितकालके लिये होता है तब वह 'नियम' कहलाता है[1]। यमको ग्रन्थमें 'सप्रयामदमायः' (१४१) पदके द्वारा 'याम' शब्दसे उल्लेखित किया है जो स्वार्थिक 'अण्' प्रत्ययके कारण यमका ही वाचक है और 'प्र' उपसर्गके साथमें रहनेसे महायम (महाव्रतानुष्ठान) का सूचक हो जाता है। इस यम अथवा महायमको ग्रन्थमें 'अधिगत मुनि-सुव्रत-स्थितिः (१११)' पदके द्वारा 'सुव्रत' भी सूचित किया है और वे सुव्रत अहिंसादिक महाव्रत ही हैं, जिन्हें कर्मयोगीको भले प्रकार अधिगत और अधिकृत करना होता है। विनयमें अहंकारका त्याग और दूसरा भी कितना ही सदाचार शामिल है। तपमें सांसारिक इच्छाओंके निरोधकी प्रमुखता है और वह बाह्य तथा अभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका है। बाह्यतप अनशनादिक-रूप[2] है और वह अन्तरंग तपकी वृद्धिके लिये

१ नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते। —रत्नकरण्ड ८७

२ अनशनाऽवमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः।—तत्त्वार्थसूत्र ९-१९॥

ही किया जाता है (८३)—वहाँ उसका लक्ष्य और ध्येय है, मात्र शरीरको सुखाना, कृश करना अथवा कष्ट पहुँचाना उसका उद्देश्य नहीं है। अन्तरंग तप प्रायश्चित्तादिरूप[1] है, जिसमें ज्ञानाराधन और ध्यान-साधनकी प्रधानता है—प्रायश्चित्तादिक प्रायः उन्हींकी वृद्धि और सिद्धिको लक्ष्यमें लेकर किये जाते हैं। ध्यान आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्लके भेदसे चार प्रकारका होता है, जिनमें पहले दो भेद अप्रशस्त (कलुषित) और दूसरे दो प्रशस्त (सातिशय) ध्यान कहलाते हैं। दोनों अप्रशस्त ध्यानों-को छोड़कर प्रशस्त ध्यानोंमें प्रवृत्त करना ही इस कर्मयोगीके लिये विहित है (८३)। यह योगी तपःसाधनाकी प्रधानताके कारण 'तपस्वी' भी कहलाता है; परन्तु इसका तप दूसरे कुछ तपस्वियोंकी तरह सन्ततिकी, धनसम्पत्तिकी तथा परलोकमें इन्द्रासनादि-प्राप्तिकी आशा-तृष्णाको लेकर नहीं होता बल्कि उसका शुद्धलक्ष्य स्वात्मोपलब्धि होता है—वह जन्म-जरा-मरण-रूप संसार-परिभ्रमणसे छूटनेके लिये ही अपने मन-वचन और कायकी प्रवृत्तियोंको तपश्चरण-द्वारा स्वाधीन करता है ४८) इन्द्रिय-विषय-सौख्यसे पराङ्मुख रहता है (८१) और इतना निस्पृह हो जाता है कि अपने देहसे भी विरक्त रहता है (७३)—उसे धोना, मांजना, तेल लगाना, कोमल शय्यापर सुलाना, पौष्टिक भोजन कराना, शृङ्गारित करना और सर्दी-गर्मी आदिकी परीपहोंसे अनावश्यकरूपमें बचाना जैसे कार्योंमें वह कोई रुचि नहीं रखता। उसका शरीर आभूषणों वेषों, आयुधों और वस्त्र-प्रावरणादिरूप व्यवधानोंसे रहित होता है और इन्द्रियोंकी शान्तताको लिये रहता है (९४, १२०)। ऐसे

[1] प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम्।
—तत्त्वार्थसूत्र ९-२०॥

तपस्वीका एक सुन्दर संक्षिप्तलक्षण ग्रन्थकार-महोदयने अपने दूसरे ग्रन्थ 'समीचीनधर्मशास्त्र' (रत्नकरण्ड) में निम्न प्रकार दिया है :—

विषयाशा-वशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञान-ध्यान-तपो रक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

'जो इन्द्रिय-विषयोंकी आशातकके वशवर्ती नहीं है, आरम्भोंसे—कृषि-वाणिज्यादिरूप सावद्यकर्मोंसे—रहित है, बाह्याभ्यन्तर परिग्रहसे मुक्त है और ज्ञान-ध्यानकी प्रधानताको लिये हुए तपस्यामें लीन रहता है वह तपस्वी प्रशंसनीय है ।'

अब रही दयाकी बात, वह तो सारे धर्मानुष्ठानका प्राण ही है । इसीसे 'मुनौ दया-दीधित-धर्मचक्रं' वाक्यके द्वारा योगी साधुके सारे धर्म-समूहको दयाकी किरणोंवाला बतलाया है (७८) और सच्चे मुनिको दयामूर्तिके रूपमें पापोंकी शान्ति करनेवाला (७६) और अखिल प्राणियोंके प्रति अपनी दयाका विस्तार करनेवाला (८१) लिखा है । उसका रूप शरीरकी उक्त स्थितिके साथ विद्या, दम और दयाकी तत्परताको लिये हुए होता है (८४) । दयाके बिना न दम बनता है, न यम-नियमादिक और न परिग्रहका त्याग ही सुघटित होता है; फिर समाधि और उसके द्वारा कर्मबन्धनोंको काटने अथवा भस्म करनेकी तो बात ही दूर है । इसीसे समाधिकी सिद्धिके लिये जहां उभय प्रकारके परिग्रह-त्यागको आवश्यक बतलाया है वहां क्षमा-सखीवाली दया-वधूको अपने आश्रयमें रखनेकी बात भी कही गई है (१६) और अहिंसा-परमब्रह्मकी सिद्धिके लिये जहां उस आश्रमविधिको अपनानेकी बात करते हुए जिसमें अणुमात्र भी आरम्भ न हो, द्विविध-परिग्रहके त्यागका विधान किया है वहां उस परिग्रह-त्यागीको 'परमकरुणः'

पदके द्वारा परमकरुणाभावसे—असाधारण-दया-सम्पत्तिसे—सम्पन्न भी सूचित किया है। इस तरह दम, त्याग और समाधि (तथा उनसे सम्बन्धित यम-नियमादिक) सबमें दयाकी प्रधानता है। इसीसे मुमुक्षुके लिये कर्मयोगके अङ्गोंमें 'दया'को अलग ही रक्खा गया है और पहला स्थान दिया गया है।

स्वामी समन्तभद्रने अपने दूसरे महान ग्रन्थ 'युक्त्यनुशासन' में कर्मयोगके इन चार अङ्गों दया, दम, त्याग और समाधिका इसी क्रमसे उल्लेख किया है[1] और साथ ही यह निर्दिष्ट किया है कि वीरजिनेन्द्रका शासन (मत) नय-प्रमाणके द्वारा वस्तु-तत्त्वको स्पष्ट करनेके साथ साथ इन चारोंकी तत्परताको लिये हुए है, ये सब उसकी खास विशेषताएँ हैं और इन्हींके कारण वह अद्वितीय है तथा अखिल प्रवादियोंके द्वारा अधृष्य है-अजय्य है। जैसा कि उक्त ग्रन्थकी निम्न कारिकासे प्रकट है:—

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं नय-प्रमाण-प्रकृताञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

यह कारिका बड़े महत्वकी है। इसमें वीरजिनेन्द्रके शासनका बीज-पदोंमें सूत्ररूपसे सार संकलन करते हुए भक्तियोग और कर्मयोग दोनोंका सुन्दर समावेश किया गया है। इसका पहला चरण कर्मयोगकी, दूसरा चरण ज्ञानयोगकी और शेष दोनों चरण प्रायः भक्तियोगकी संसूच-

१ श्री विद्यानन्दाचार्य इस क्रमकी सार्थकता बतलाते हुए टीकामें लिखते हैं— निमित्त-नैमित्तिक-भाव-निबन्धनः पूर्वोत्तर-वचन-क्रमः। दया हि निमित्तम् दमस्य, तस्यां सत्यां तदुत्पत्तेः। दमश्च त्यागस्य (निमित्तं) तस्मिन्सति तद्घटनात्। त्यागश्च समाधेस्तस्मिन्सत्येव विक्षेपादिनिवृत्ति-सिद्धेरेकाग्रस्य समाधिविशेषस्योत्पत्तेः अन्यथा तदनुपपत्तेः ”

नाको लिये हुए है। और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि दया, दम, त्याग और समाधि इन चारोंमें वीरशासनका सारा कर्मयोग समाविष्ट है। यम, नियम, संयम, व्रत, विनय, शील, तप, ध्यान, चारित्र, इन्द्रियजय, कषायजय, परीषहजय, मोहविजय, कर्मविजय, गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, त्रिदण्ड हिंसा-दिविरति और क्षमादिकके रूपमें जो भी कर्मयोग अन्यत्र पाया जाता है वह सब इन चारोंमें अन्तर्भूत है—इन्हींकी व्याख्यामें उसे प्रस्तुत किया जा सकता है। चुनांचे प्रस्तुत ग्रन्थमें भी इन चारोंका अपने कुछ अभिन्न संगी-साथियोंके साथ इधर इधर प्रसूत निर्देश है; जैसा कि ऊपरके संचयन और विवेचनसे स्पष्ट है।

इस प्रकार यह ग्रन्थके सारे शरीरमें व्याप्त कर्मयोग-रसका निचोड़ है—सत है अथवा सार है, जो अपने कुछ उपयोग-प्रयोग-को भी साथमें लिये हुए है।

तीनों योगोंके इस भारी कथनको लिये हुए प्रस्तुत स्तोत्रपरसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि स्वामी समन्तभद्र कैसे और कितने उच्च कोटिके भक्तियोगी, ज्ञानयोगी और कर्मयोगी थे और इस-लिये उनके पद-चिह्नोंपर चलनेके लिए हमारा आचार-विचार किस प्रकारका होना चाहिए और कैसे हमें उनके पथका पथिक बनना अथवा आत्महितकी साधनाके साथ साथ लोक-हितकी साधनामें तत्पर रहना चाहिये।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
ता० १३ – ६ – १९५१

जुगलकिशोर मुख्तार

समन्तभद्रका संक्षिप्त परिचय

इस ग्रन्थके सुप्रसिद्ध कर्ता स्वामी समन्तभद्र हैं, जिनका आसन जैनसमाजके प्रतिभाशाली आचार्यों, समर्थ विद्वानों तथा लेखकों और सुपूज्य महात्माओंमें बहुत ऊंचा है। आप जैनधर्मके मर्मज्ञ थे, वीरशासनके रहस्यको हृदयङ्गम किये हुए थे, जैन धर्मकी साक्षात् जीती-जागती मूर्ति थे और वीरशासनका अद्वितीय प्रतिनिधित्व करते थे; इतना ही नहीं बल्कि आपने अपने समयके सारे दर्शनशास्त्रोंका गहरा अध्ययन कर उनका तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था और इसीसे आप सब दर्शनों, धर्मों अथवा मतोंका सन्तुलनपूर्वक परीक्षण कर यथार्थ वस्तुस्थितिरूप सत्यको ग्रहण करनेमें समर्थ हुए थे और उस असत्यका निर्मूलन करनेमें भी प्रवृत्त हुए थे जो सर्वथा एकान्तवादके सूत्रसे संचालित होता था। इसीसे महान आचार्य श्रीविद्यानन्द स्वामीने युक्त्यनुशासन-टीकाके अन्तमें आपको **'परीक्षेक्षण'**—परीक्षानेत्रसे सबको देखनेवाले—लिखा है और अष्टसहस्रीमें आपके वचन-माहात्म्यका बहुत कुछ गौरव ख्यापित करते हुए एक स्थानपर यह भी लिखा है कि—'स्वामी समन्तभद्रका वह निर्दोष प्रवचन जयवन्त हो—अपने प्रभावसे लोकहृदयोंको प्रभावित करे—जो नित्यादि एकान्तगर्तोंमें—वस्तु कूटस्थवत् सर्वथा नित्य ही है अथवा क्षण-क्षणमें निरन्वय-विनाशरूप सर्वथा क्षणिक (अनित्य) ही है, इस प्रकारकी मान्यतारूप एकान्त खड्डोंमें पड़नेके लिये विवश हुए प्राणियोंको अनर्थसमूहसे निकालकर मंगलमय उच्चपद प्राप्त करानेके लिए समर्थ है, स्याद्वादन्यायके मार्गको प्रख्यात करनेवाला है, सत्यार्थ है, अलंघ्य है, परीक्षापूर्वक प्रवृत्त हुआ है

अथवा प्रेक्षावान—समीक्ष्यकारी—आचार्य महोदयके द्वारा जिसकी प्रवृत्ति हुई है और जिसने सम्पूर्ण मिथ्याप्रवादको विघटित अथवा तितर बितर कर दिया है।' और दूसरे स्थानपर यह बतलाया है कि—'जिन्होंने परीक्षावानोंके लिये कुनीति और कुप्रवृत्तिरूप—नदियोंको सुखा दिया है, जिनके वचन निर्दोष नीति-स्याद्वादन्यायको लिये हुए होनेके कारण मनोहर हैं तथा तत्त्वार्थ-समूहके संद्योतक हैं वे योगियोंके नायक, स्याद्वादमार्गके अग्रणी नेता, शक्ति-सामर्थ्यसे सम्पन्न-विभु और सूर्यके समान देदीप्यमान-तेजस्वी श्रीस्वामी समन्तभद्र कलुषित-आशय-रहित प्राणियोंको—सज्जनों अथवा सुधीजनोंको—विद्या और आनन्द-घनके प्रदान करनेवाले होवें—उनके प्रसादसे (प्रसन्नतापूर्वक उन्हें चित्तमें धारण करनेसे) सबोंके हृदयमें शुद्धज्ञान और आनन्दकी वर्षा होवे'। साथ ही एक तीसरे स्थानपर यह प्रकट किया है कि—'जिनके नय-प्रमाण-मूलक अलंघ्य उपदेशसे—प्रवचनको सुनकर—महा उद्धतमति वे एकान्तवादी भी प्रायः शान्तताको प्राप्त हो जाते हैं जो कारणसे कार्यादिकका सर्वथा भेद ही नियत मानते हैं अथवा यह स्वीकार करते हैं कि कारण-कार्यादिक सर्वथा अभिन्न ही हैं—एक ही हैं—वे निर्मल तथा विशालकीर्तिसे युक्त अतिप्रसिद्ध योगिराज स्वामी समन्तभद्र सदा जयवन्त रहें—अपने प्रवचनप्रभावसे बराबर लोकहृदयोंको प्रभावित करते रहें।'

इसी तरह विक्रमकी ७वीं शताब्दीके सातिशय विद्वान श्री-अकलंकदेव-जैसे महर्द्धिक आचार्यने, अपनी अष्टशती में समन्तभद्रको 'भव्यैकलोकनयन'—भव्य जीवोंके हृदयान्धकारको दूर करके अन्तःप्रकाश करने तथा सन्मार्ग दिखलानेवाला अद्वितीय सूर्य—और 'स्याद्वादमार्गका पालक (संरक्षक)' बतलाते हुए

यह भी लिखा है कि—उन्होंने सम्पूर्ण पदार्थ-तत्त्वोंको अपना विषय करनेवाले स्याद्वादरूपी पुण्योदधि-तीर्थको, इस कलिकालमें, भव्यजीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेके लिये प्रभावित किया है—उसके प्रभावको सर्वत्र व्याप्त किया है, और ऐसा लिखकर उन्हें बारबार नमस्कार किया है।

स्वामी समन्तभद्र यद्यपि बहुतसे उत्तमोत्तम गुणोंके स्वामी थे, फिर भी कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व नामके चार गुण आपमें असाधारण कोटिकी योग्यताको लिये हुए थे—ये चारों शक्तियाँ उनमें खास तौरसे विकासको प्राप्त हुई थीं—और इनके कारण उनका निर्मल यश दूर-दूर तक चारों ओर फैल गया था। उस समय जितने 'कवि' थे—नये नये सन्दर्भ अथवा नई नई मौलिक रचनाएँ तय्यार करनेवाले समर्थ विद्वान् थे, 'गमक' थे—दूसरे विद्वानोंकी कृतियोंके मर्म एवं रहस्यको समझने तथा दूसरोंको समझानेमें प्रवीणबुद्धि थे, विजयकी ओर वचन-प्रवृत्ति रखनेवाले 'वादी' थे, और अपनी वाक्पटुता तथा शब्दचातुरीसे दूसरोंको रंजायमान करने अथवा अपना प्रेमी बना लेनेमें निपुण ऐसे 'वाग्मी' थे, उन सबपर समन्तभद्रके यशकी छाया पड़ी हुई थी, वह चूड़ामणिके समान सर्वोपरि था और बादको भी बड़े-बड़े विद्वानों तथा महान आचार्योंके द्वारा शिरोधार्य किया गया है। जैसा कि विक्रमकी ९वीं शताब्दीके विद्वान् भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्निचूडामणीयते ॥ (आदिपुराण)

स्वामी समन्तभद्रके इन चारों गुणोंकी लोकमें कितनी धाक थी, विद्वानोंके हृदय पर इनका कितना सिक्का जमा हुआ था

और वे वास्तवमें कितने अधिक महत्वको लिये हुए थे. इन सब बातोंका कुछ अनुभव करानेके लिये कितने ही प्रमाण-वाक्योंको 'स्वामी समन्तभद्र' नामके उस ऐतिहासिक निबन्धमें संकलित किया गया है जो माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें प्रकाशित हुए रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी विस्तृत प्रस्तावनाके अनन्तर २५२ पृष्ठोंपर जुदा ही अङ्कित है और अलगसे भी विषयसूची तथा अनुक्रमणिकाके साथ प्रकाशित हुआ है। यहाँ संक्षेपमें कुछ थोडासा ही सार[1] दिया जाता है और वह इस प्रकार है:—

(१) भगवज्जिनसेनने आदिपुराणमें समन्तभद्रको 'महान कविवेधा'—कवियोंको उत्पन्न करनेवाला महान विधाता (ब्रह्मा) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि उनके वचनरूपी वज्रपातसे कुमतरूपी पर्वत खण्ड-खण्ड हो गए थे।

(२) वादिराजसूरिने यशोधरचरितमें समन्तभद्रको 'काव्यमाणिक्योंका रोहण' (पर्वत) लिखा है और यह भावना की है कि 'वे हमें सूक्तिरत्नोंके प्रदान करनेवाले होवें'।

(३) वादीभसिंह सूरिने, गद्यचिन्तामणिमें समन्तभद्रमुनीश्वरका जयघोष करते हुए उन्हें 'सरस्वतीकी स्वच्छन्द-विहारभूमि' बतलाया है और लिखा है कि 'उनके वचनरूपी वज्रके निपातसे प्रतिपक्षी सिद्धान्त-रूप पर्वतोंकी चोटियाँ खण्ड-खण्ड हो गई थीं—अर्थात समन्तभद्रके आगे प्रतिपक्षी सिद्धान्तोंका प्रायः कुछ भी मूल्य या गौरव नहीं रहा था और न उनके प्रतिपादक प्रतिवादीजन ऊँचा मुँह करके ही सामने खड़े हो सकते थे।'

१. इस सारके अधिकांश मूल वाक्योंका परिचय 'सत्साधुस्मरण मंगलपाठ' के अन्तर्गत 'समन्तभद्र-स्मरण' नामक प्रकरणमें भी प्राप्त किया जा सकता है।

(४) वर्द्धमानसूरिने, वराङ्गचरितमें, समन्तभद्रको 'महाकवीश्वर' 'कुवादिविद्या-जय-लब्ध-कीर्ति, और 'सुतर्कशास्त्रामृत-सारसागर' लिखा है और यह प्रार्थना की है कि 'वे मुझ कवित्व-कांक्षी पर प्रसन्न होवें—उनकी विद्या मेरे अन्तःकरणमें स्फुरायमान होकर मुझे सफल-मनोरथ करे।'

(५) श्री शुभचन्द्राचार्यने, ज्ञानार्णवमें, यह प्रकट किया है कि 'समन्तभद्र जैसे कवीन्द्र-सूर्योंकी जहां निर्मलसूक्तिरूप किरणें स्फुरायमान हो रही हैं वहां वे लोग खद्योत-जुगनूंकी तरह हँसीके ही पात्र होते हैं जो थोड़ेसे ज्ञानको पाकर उद्धत हैं—कविता (नूतन संदर्भकी रचना) करके गर्व करने लगते हैं।'

(६) भट्टारक सकलकीर्तिने, पार्श्वनाथचरितमें, लिखा है कि जिनकी वाणी (ग्रन्थादिरूप भारती) संसारमें सब ओरसे मंगलमय है और सारी जनताका उपकार करनेवाली है उन कवियोंके ईश्वर समन्तभद्रको सादर वन्दन (नमस्कार) करता हूँ।'

(७) ब्रह्मअजितने, हनुमच्चरितमें, समन्तभद्रको 'दुर्वादियोंकी वादरूपी खाज-खुजलीको मिटानेके लिये अद्वितीय 'महौषधि' बतलाया है।

(८) कवि दामोदरने, चन्द्रप्रभचरितमें, लिखा है कि 'जिनकी भारतीके प्रतापसे—ज्ञानभण्डाररूप मौलिक कृतियोंके अभ्याससे—समस्त कविसमूह सम्यग्ज्ञानका पारगामी हो गया उन कविनायक—नई नई मौलिक रचनाएं करने वालोंके शिरोमणि—योगी समन्तभद्रकी मैं स्तुति करता हूँ।'

(९) वसुनन्दी आचार्यने, स्तुतिविद्याकी टीकामें, समन्तभद्रको

'सद्बोधरूप'—सम्यग्ज्ञानकी-मूर्ति—और 'वरगुणालय'—उत्तम-गुणोंका आवास—बतलाते हुए यह लिखा है कि 'उनके निर्मल-यशकी कान्तिसे ये तीनों लोक अथवा भारतके उत्तर, दक्षिण और मध्य ये तीनों प्रदेश कान्तिमान थे—उनका यशस्तेज सर्वत्र फैला हुआ था।'

(१०) विजयवर्णीने, शृङ्गारचन्द्रिकामें, समन्तभद्रको 'महा-कवीश्वर' बतलाते हुए लिखा है कि 'उनके द्वारा रचे गये प्रबन्ध-समूहरूप सरोवरमें, जो रसरूप जल तथा अलङ्काररूप कमलोंसे सुशोभित है और जहाँ भावरूप हंस विचरते हैं, सरस्वती-क्रीडा किया करती है'—सरस्वती देवीके क्रीडास्थल (उपाश्रय) होनेसे समन्तभद्रके सभी प्रबन्ध (ग्रन्थ) निर्दोष, पवित्र एवं महती शोभासे सम्पन्न हैं।'

(११) अजितसेनाचार्यने, अलङ्कारचिन्तामणिमें, कई पुरा-तन पद्य ऐसे संकलित किये हैं जिनमें समन्तभद्रके वाद-माहा-त्म्यका कितना ही पता चलता है। एक पद्यसे मालूम होता है कि 'समन्तभद्रकालमें कुवादीजन प्रायः अपनी स्त्रियोंके सामने तो कठोर भाषण किया करते थे—उन्हें अपनी गर्वोक्तियां अथवा बहादुरीके गीत सुनाते थे—परन्तु जब योगी समन्तभद्रके सामने आते थे तो मधुरभाषी बनजाते थे और उन्हें 'पाहि पाहि'—रक्षा करो रक्षा करो अथवा आप ही हमारे रक्षक हैं—ऐसे सुन्दर मृदुल वचन ही कहते बनता था।' और यह सब समन्तभद्रके असाधारण-व्यक्तित्वका प्रभाव था।

दूसरे पद्यसे यह जाना जाता है कि 'जब महावादी श्रीसमन्त-भद्र (सभास्थान आदिमें) आते थे तो कुवादीजन नीचामुख करके अँगूठोंसे पृथ्वी कुरेदने लगते थे अर्थात् उन लोगों पर—

प्रतिवादियोंपर—समन्तभद्रका इतना प्रभाव पड़ता था कि वे उन्हें देखते ही विषण्णवदन हो जाते और किंकर्तव्यविमूढ बन जाते थे।'

और एक तीसरे पद्यमें यह बतलाया गया है कि—वादी-समन्तभद्रकी उपस्थितिमें, चतुराईके साथ स्पष्ट शीघ्र और बहुत बोलने वाले धूर्जटिकी—तन्नामक महाप्रतिवादी विद्वान्की—जिह्वा ही जब शीघ्र अपने बिलमें घुस जाती है—उसे कुछ बोल नहीं आता—तो फिर दूसरे विद्वानोंकी तो कथा (बात) ही क्या है? उनका अस्तित्व तो समन्तभद्रके सामने कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। वह पद्य, जो कविहस्तिमल्लके 'विक्रान्तकौरव' नाटकमें भी पाया जाता है, इस प्रकार है—

अवटु-तटमटति झटिति स्फुट-पटु-वाचाट-धूर्जटेर्जिह्वा।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति का कथाऽन्येषाम् ॥

यह पद्य शकसंवत् १०५० में उत्कीर्ण हुए श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५४ (६७) में भी थोड़ेसे पाठभेदके साथ उपलब्ध होता है। वहां 'धूर्जटेर्जिह्वा' के स्थानपर 'धूर्जटेरपि जिह्वा' और 'सति का कथाऽन्येषां' की जगह 'तव सदसि भूप! कास्थाऽन्येषां' पाठ दिया है, और इसे समन्तभद्रके वादारम्भ-समारम्भ-समयकी उक्तियोंमें शामिल किया है। पद्यके उसरूपमें धूर्जटिके निरुत्तर होनेपर अथवा धूर्जटिकी गुरुतर पराजयका उल्लेख करके राजासे पूछा गया है कि 'धूर्जटि-जैसे विद्वानकी ऐसी हालत होनेपर अब आपकी सभाके दूसरे विद्वानोंकी क्या आस्था है? क्या उनमेंसे कोई वाद करनेकी हिम्मत रखता है'?

(१२) श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०५ में समन्तभद्रका

जयघोष करते हुए उनके सूक्तिसमूहको—सुन्दर प्रौढ युक्तियोंको लिये हुए प्रवचनको—वादीरूपी हाथियोंको वशमें करनेके लिये 'वज्रांकुश' बतलाया है और साथ ही यह लिखा है कि 'उनके प्रभावसे यह सम्पूर्ण पृथ्वी एक बार दुर्वादुकोंकी वार्तासे भी विहीन होगई थी—उनकी कोई बात भी नहीं करता था।'

(१३) श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०८ में भद्रमूर्ति-समन्तभद्रको जिनशासनका प्रणेता (प्रधान नेता) बतलाते हुए यह भी प्रकट किया है कि 'उनके वचनरूपी वज्रके कठोरपातसे प्रतिवादीरूप पर्वत चूर चूर हो गये थे—कोई भी प्रतिवादी उनके सामने नहीं ठहरता था।'

(१४) तिरुमकूडलुनरसीपुरके शिलालेख नं० १०५ में समन्तभद्रके एक वादका उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'जिन्होंने वाराणसी (बनारस) के राजाके सामने विद्वेषियोंको—अनेकान्त-शासनसे द्वेष रखनेवाले सर्वथा एकान्तवादियोंको—पराजित कर दिया था, वे समन्तभद्र मुनीश्वर किसके स्तुतिपात्र नहीं हैं?—सभीके द्वारा भले प्रकार स्तुति किये जानेके योग्य हैं।'

(१५) समन्तभद्रके गमकत्व और वाग्मित्व-जैसे गुणोंका विशेष परिचय उनके देवागमादि ग्रन्थोंको अवलोकन करनेसे भले प्रकार अनुभवमें लाया जा सकता है तथा उन उल्लेख-वाक्योंपरसे भी कुछ जाना जा सकता है जो समन्तभद्र-वाणीका कीर्तन अथवा उसका महत्त्व ख्यापन करनेके लिये लिखे गये हैं। ऐसे उल्लेख-वाक्य अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंमें बहुत पाये जाते हैं। कवि नागराजका 'समन्तभद्र-भारती-स्तोत्र' तो इसी विषयको लिये हुए है और वह 'सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ' में वीरसेवामन्दिरसे सानुवाद प्रकाशित हो चुका है। यहां दो तीन उल्लेखोंको और

सूचन किया जाता है, जिससे समन्तभद्रकी गमकत्वादि-शक्तियों और उनके वचनमाहात्म्यका और भी कुछ पता चल सके—

(क) श्रीवादिराजसूरिने, न्यायविनिश्चयालङ्कारमें, लिखा है कि 'सर्वत्र फैले हुए दुर्नयरूपी प्रबल अन्धकारके कारण जिसका तत्त्व लोकमें दुर्बोध हो रहा है—ठीक समझमें नहीं आता—वह हितकारी वस्तु—प्रयोजनभूत जीवादि-पदार्थमाला—श्रीसमन्तभद्रके वचनरूप देदीप्यमान रत्नदीपकोंके द्वारा हमें सब ओरसे चिरकाल तक स्पष्ट प्रतिभासित होवे—अर्थात् स्वामी समन्तभद्रका प्रवचन उस महाजाज्वल्यमान रत्नसमूहके समान है जिसका प्रकाश अप्रतिहत होता है और जो संसारमें फैले हुए निरपेक्ष-नयरूपी महामिथ्यान्धकारको दूर करके वस्तुतत्त्वको स्पष्ट करनेमें समर्थ है, उसे प्राप्त करके हम अपना अज्ञान दूर करें।'

(ख) श्रीवीरनन्दी आचार्यने, चन्द्रप्रभचरित्रमें, लिखा है कि 'गुणोंसे—सूतके धागोंसे—गूंथी हुई निर्मल गोल मोतियोंसे युक्त और उत्तम पुरुषोंके कण्ठका विभूषण बनी हुई हारयष्टिको—श्रेष्ठ मोतियोंकी मालाको—प्राप्त कर लेना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन कि समन्तभद्रकी भारती (वाणी) को पा लेना—उसे खूब समझकर हृदयङ्गम कर लेना है, जो कि सद्गुणोंको लिये हुए है, निर्मल वृत्त (वृत्तान्त, चरित्र, आचार, विधान तथा छन्द) रूपी मुक्ताफलोंसे युक्त है और बड़े-बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने जिसे अपने कण्ठका आभूषण बनाया है—वे नित्य ही उसका उच्चारण तथा पाठ करनेमें अपना गौरव मानते और अहो-भाग्य समझते रहे हैं। अर्थात् समन्तभद्रकी वाणी परम दुर्लभ है—उनके सातिशय वचनोंका लाभ बड़े ही भाग्य तथा परिश्रमसे होता है।'

(ग) श्रीनरेन्द्रसेनाचार्य, सिद्धान्तसारसंग्रहमें, यह प्रकट करते हैं कि 'श्रीसमन्तभद्रदेवका निर्दोष प्रवचन प्राणियोंके लिये ऐसा ही दुर्लभ है जैसा कि मनुष्यत्वका पाना—अर्थात् अनादिकालसे संसारमें परिभ्रमण करते हुए प्राणियोंको जिस प्रकार मनुष्यभव-का मिलना दुर्लभ होता है उसी प्रकार समन्तभद्रदेवके प्रवचनका लाभ होना भी दुर्लभ है, जिन्हें उसकी प्राप्ति होती है वे निःसन्देह सौभाग्यशाली हैं।'

ऊपरके इन सब उल्लेखोंपरसे समन्तभद्रकी कवित्वादि शक्तियोंके साथ उनकी वादशक्तिका जो परिचय प्राप्त होता है उससे सहज ही यह समझमें आ जाता है कि वह कितनी असा-धारण कोटिकी तथा अप्रतिहत-वीर्य थी और दूसरे विद्वानोंपर उसका कितना अधिक सिक्का तथा प्रभाव था, जो अभी तक भी अक्षुण्णरूपसे चला जाता है—जो भी निष्पक्ष विद्वान आपके वादों अथवा तर्कोंसे परिचित होता है वह उनके सामने नत-मस्तक हो जाता है।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि समन्तभद्रका वाद-क्षेत्र संकुचित नहीं था। उन्होंने उसी देशमें अपने वादकी विजयदुन्दुभि नहीं बजाई जिसमें वे उत्पन्न हुए थे, बल्कि उनकी वाद-प्रीति, लोगोंके अज्ञानभावको दूर करके उन्हें सन्मार्गकी ओर लगानेकी शुभभावना और जैन सिद्धान्तोंके महत्वको विद्वानोंके हृदय-पटलपर अंकित कर देनेकी सुरुचि इतनी बढ़ी हुई थी कि उन्होंने सारे भारतवर्षको अपने वादका लीला-स्थल बनाया था। वे कभी इस बातकी प्रतीक्षामें नहीं रहते थे कि कोई दूसरा उन्हें वादके लिए निमंत्रण दे और न उनकी मनःपरिणति उन्हें इस बातमें सन्तोष करनेकी ही इजाजत देती थी कि जो लोग अज्ञानभावसे मिथ्यात्वरूपी गर्तों

(खड्डों) में गिरकर अपना आत्मपतन कर रहे हैं उन्हें वैसा करने दिया जाय। और इसलिये उन्हें जहां कहीं किसी महावादी अथवा किसी बड़ी वादशालाका पता चलता था तो वे वहीं पहुँच जाते थे और अपने वादका डंका[1] बजाकर विद्वानोंको स्वतः वादके लिये आह्वान करते थे। डंकेको सुनकर वादीजन, यथा नियम, जनताके साथ वादस्थानपर एकत्र हो जाते थे और तब समन्तभद्र उनके सामने अपने सिद्धान्तोंका बड़ी ही खूबीके साथ विवेचन करते थे और साथ ही इस बातकी घोषणा कर देते थे कि उन सिद्धान्तोंमेंसे जिस किसी सिद्धान्तपर भी किसीको आपत्ति हो वह वादके लिये सामने आ जाय। कहते हैं कि समन्तभद्रके स्याद्वाद-न्यायकी तुलामें तुले हुए तत्त्वभाषणको सुनकर लोग मुग्ध हो जाते थे और उन्हें उसका कुछ भी विरोध करते नहीं बनता था। यदि कभी कोई भी मनुष्य अहंकारके वश होकर अथवा नासमझीके कारण कुछ विरोध खड़ा करता था तो उसे शीघ्र ही निरुत्तर हो जाना पड़ता था।

इस तरह, समन्तभद्र भारतके पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, प्रायः सभी देशोंमें, एक अप्रतिद्वंद्वी सिंहके समान क्रीडा करते हुए, निर्भयताके साथ वादके लिये घूमे हैं। एक बार आप घूमते

१ उन दिनों—समन्तभद्रके समयमें—फाहियान (ई० ४००) और ह्वेनत्सग (ई० ६३०) के कथनानुसार, यह दस्तूर था कि नगरमें किसी सार्वजनिक स्थानपर एक डंका (भेरी या नक्कारा) रक्खा जाता था और जो कोई विद्वान् किसी मतका प्रचार करना चाहता था अथवा वादमें अपने पाण्डित्य और नैपुण्यको सिद्ध करनेकी इच्छा रखता था तो वह वाद घोषणाके रूपमें उस डंकेको बजाता था।

—हिस्ट्री आफ् कनडीज़ लिटरेचर

हुए 'करहाटक' नगर में भी पहुँचे थे, जो उस समय बहुतसे भटोंसे युक्त था, विद्याका उत्कट स्थान था और साथ ही अल्प विस्तारवाला अथवा जनाकीर्ण था। उस वक्त आपने वहाँके राजापर अपने वाद-प्रयोजनको प्रकट करते हुए, उन्हें अपना तद्विषयक जो परिचय एक पद्यमें दिया था वह श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५४ में निम्न प्रकारसे संग्रहीत है—

> पूर्वं पाटलिपुत्र-मध्यनगरे भेरी मया ताडिता
> पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये कांचीपुरे वैदिशे।
> प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
> वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं॥

इस पद्यमें दिये हुए आत्मपरिचयसे यह मालूम होता है कि करहाटक पहुँचने से पहले समन्तभद्रने जिन देशों तथा नगरोंमें वादके लिये विहार किया था उनमें पाटलिपुत्रनगर, मालव (मालवा) सिन्धु, ठक्क (पंजाब) देश, कांचीपुर (कांजीवरम्) और वैदिश (भिलसा) ये प्रधान देश तथा जनपद थे जहाँ उन्होंने वादकी भेरी बजाई थी और जहाँ पर प्रायः किसी ने भी उनका विरोध नहीं किया था।[1]

[1] समन्तभद्रके इस देशाटनके सम्बन्धमें मिस्टर एम० एस० रामस्वामी आय्यंगर अपनी 'स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज़्म' नामकी पुस्तक में लिखते हैं—

'यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र एक बहुत बड़े जैनधर्मप्रचारक थे, जिन्होंने जैनसिद्धान्तों और जैन आचारोंको दूर दूर तक विस्तारके साथ फैलानेका उद्योग किया है, और यह कि जहां कहीं वे गये हैं उन्हें दूसरे

यहाँ तकके इस सब परिचय पर से स्वामी समन्तभद्रके असाधारण गुणों, उनके अनुपम प्रभाव और लोकहितकी भावनाको लेकर धर्मप्रचारके लिये उनके सफल देशाटनादिका कितना ही हाल तो मालूम हो गया; परन्तु अभी तक यह मालूम नहीं हो सका कि समन्तभद्रके पास वह कौनसा मोहन-मंत्र था जिसके कारण वे सदा इस बातके लिये भाग्यशाली रहे हैं कि विद्वान लोग उनकी वाद-घोषणाओं और उनके तात्त्विक भाषणोंको चुपकेसे सुन लेते थे और उन्हें उनका प्रायः कोई विरोध करते नहीं बनता था। वादका तो नाम ही ऐसा है जिससे चाहे-अनचाहे विरोधकी आग भड़कती है; लोग अपनी मान-रक्षाके लिये, अपने पक्षको निर्बल समझते हुए भी, उसका समर्थन करनेके लिये खड़े हो जाते हैं और दूसरेकी युक्तियुक्त बातको भी मानकर नहीं देते; फिर भी समन्तभद्रके साथमें यह सब प्रायः कुछ भी नहीं होता था, यह क्यों ?—अवश्य ही इसमें कोई खास रहस्य है, जिसके प्रकट होनेकी जरूरत है और जिसको जाननेके लिये पाठक भी उत्सुक होंगे।

जहाँ तक मैंने इस विषयकी जाँच की है—इस मामले पर गहरा विचार किया है—और मुझे समन्तभद्रके साहित्यादिक-परसे उसका विशेष अनुभव हुआ है उसके आधारपर मुझे इस बातके कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि समन्तभद्रकी इस सारी सफलताका रहस्य उनके अन्तःकरणकी शुद्धता, चरित्र की निर्मलता और उनकी वाणी के महत्त्व में संनिहित है,

सम्प्रदायोंकी तरफसे किसी भी विरोधका सामना करना नहीं पड़ा (He met with no opposition from other sects wherever he went)।

अथवा यों कहिये कि यह सब अन्तःकरणकी पवित्रता तथा चरित्र की शुद्धताको लिये हुए उनके वचनोंका ही महात्म्य है जो वे दूसरों पर अपना इस प्रकार सिक्का जमा सके हैं। समन्तभद्रकी जो कुछ भी वचन-प्रवृत्ति होती थी वह सब प्रायः दूसरोंकी हित-कामनाको ही साथमें लिये हुए होती थी। उसमें उनके लौकिक स्वार्थकी अथवा अपने अहंकारको पुष्ट करने और दूसरोंको नीचा दिखाने रूप कुत्सित भावनाकी गन्ध तक भी नहीं रहती थी। वे स्वयं सन्मार्गपर आरूढ थे और चाहते थे कि दूसरे लोग भी सन्मार्गको पहिचानें और उसपर चलना आरम्भ करें। साथ ही, उन्हें दूसरोंको कुमार्गमें फसा हुआ देखकर बड़ा ही खेद तथा कष्ट होता था[1]। और इसलिये उनका वाक्प्रयत्न सदा उनकी इच्छाके अनुकूल ही रहता था और वे उसके द्वारा ऐसे लोगोंके उद्धारका अपनी शक्तिभर प्रयत्न किया करते थे। ऐसा मालूम होता है कि स्वात्म-हित-साधनके बाद दूसरोंका हित-

---

१ आपके इस खेदादिको प्रकट करने वाले तीन पद्य, नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

मद्याङ्गवद्भूतसमागमे ज्ञः शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टिः।
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा! मृदवः प्रलब्धाः ॥३५॥
दृष्टेऽविशिष्टे जननादिहेतौ विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषाम्।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धिरतावकानामपि हा! प्रपातः ॥३६॥
स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावादुच्चैरनाचारपथेष्वदोषम्।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिबाह्या बत! विभ्रमन्ति ॥३७

—युक्त्यनुशासन

इन पद्योंका आशय उस अनुवादादिक परसे जानना चाहिये जो ग्रन्थमें आठ पृष्ठों पर दिया है।

साधन करना ही उनके लिये एक प्रधान कार्य था और वे बड़ी योग्यताके साथ उनका सम्पादन करते थे। उनकी वाक्परिणति सदा क्रोधसे शून्य रहती थी, वे कभी किसीको अपशब्द नहीं कहते थे और न दूसरोंके अपशब्दोंसे उनकी शान्ति भंग होती थी। उनकी आँखोंमें कभी सुर्खी नहीं आती थी; वे हमेशा हँसमुख तथा प्रसन्नवदन रहते थे। बुरी भावनासे प्रेरित होकर दूसरोंके व्यक्तित्वपर कटाक्ष करना उन्हें नहीं आता था और मधुर भाषण तो उनकी प्रकृति में ही दाखिल था। यही वजह थी कि कठोर भाषण करने वाले भी उनके सामने आकर मृदुभाषी बन जाते थे; अपशब्द-मदान्धोंको भी उनके आगे बोल तक नहीं आता था और उनके 'वज्रपात' तथा 'वज्रांकुश' की उपमाको लिये हुए वचन भी लोगोंको अप्रिय मालूम नहीं होते थे।

समन्तभद्रके वचनोंमें एक खास विशेषता यह भी होती थी कि वे स्याद्वाद-न्यायकी तुलामें तुले हुए होते थे और इसलिये उनपर पक्षपातका भूत कभी सवार होने नहीं पाता था। समन्तभद्र स्वयं परीक्षा-प्रधानी थे, वे कदाग्रह को बिल्कुल पसन्द नहीं करते थे; उन्होंने सर्वज्ञवीतराग भगवान महावीर तककी परीक्षा की है और तभी उन्हें 'आप्त' रूपमें स्वीकार किया है। वे दूसरोंको भी परीक्षाप्रधानी होनेका उपदेश देते थे—सदैव उनकी यही शिक्षा रहती थी कि किसी भी तत्त्व अथवा सिद्धान्तको, विना परीक्षा किये, केवल दूसरोंके कहनेपर ही न मान लेना चाहिये बल्कि समर्थ-युक्तियोंके द्वारा उसकी अच्छी तरहसे जाँच करनी चाहिये—उसके गुण-दोषोंका पता लगाना चाहिये—और तब उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करना चाहिये। ऐसी हालतमें वे अपने किसी भी सिद्धान्तको जबरदस्ती दूसरोंके गले उतारने अथवा उनके सिर मँढनेका कभी यत्न नहीं करते थे। वे विद्वानों

को, निष्पक्षदृष्टिसे, स्व-पर-सिद्धान्तोंपर खुला विचार करनेका पूरा अवसर देते थे। उनकी सदैव यह घोषणा रहती थी कि किसी भी वस्तुको एक ही पहलूसे—एक ही ओरसे—मत देखो, उसे सब ओरसे और सब पहलुओंसे देखना चाहिये, तभी उसका यथार्थज्ञान हो सकेगा। प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म अथवा अङ्ग होते हैं—इसीसे वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसके किसी एक धर्म या अङ्गको लेकर सर्वथा उसी रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करना 'एकान्त' है और यह एकान्तवाद मिथ्या है, कदाग्रह है, तत्त्वज्ञानका विरोधी है, अधर्म है और अन्याय है। स्याद्वादन्याय इसी एकान्तवादका निषेध करता है—सर्वथा सत-असत-एक अनेक-नित्य-अनित्यादि संपूर्ण एकान्तोंसे विपक्षीभूत अनेकान्त-तत्त्व ही उसका विषय[१] है।

अपनी घोषणाके अनुसार, समन्तभद्र प्रत्येक विषयके गुण दोषोंको स्याद्वाद-न्यायकी कसौटी पर कसकर विद्वानोंके सामने रखते थे, वे उन्हें बतलाते थे कि एक ही वस्तुतत्त्वमें अमुक अमुक एकान्तपक्षोंके माननेमें क्या क्या अनिवार्य दोष आते हैं और वे दोष स्याद्वाद न्यायको स्वीकार करनेपर अथवा अनेकान्तवादके प्रभावसे किस प्रकार दूर हो जाते हैं और किस तरहपर वस्तुतत्त्व-का सामंजस्य ठीक बैठ जाता है[२]। उनके समझानेमें दूसरोंके प्रति तिरस्कारका कोई भाव नहीं होता था। वे एक मार्ग भूले हुए को मार्ग दिखानेकी तरह प्रेमके साथ उन्हें उनकी त्रुटियोंका बोध

१ सर्वथासदसदेकानेक-नित्यादि सकलैकान्त-प्रत्यनीकाऽनेकान्ततत्त्व-विषयः स्याद्वादः। —देवागमवृत्तिः

२ इस विषयका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये समन्तभद्रका 'देवागम' ग्रन्थ देखना चाहिये, जिसे 'आप्तमीमांसा' भी कहते हैं।

कराते थे. और इससे उनके भाषणादिकका दूसरोंपर अच्छा ही प्रभाव पड़ता था—उनके पास उसके विरोधका कुछ भी कारण नहीं रहता था। यही वजह थी और यही सब वह मोहन-मंत्र था जिससे समन्तभद्रको दूसरे सम्प्रदायोंकी ओरसे किसी खास विरोधका सामना प्रायः नहीं करना पड़ा और उन्हें अपने उद्देश्यमें भारी सफलताकी प्राप्ति हुई।

समन्तभद्रकी इस सफलताका एक समुच्चय उल्लेख श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५४ (६७) में, जिसे 'मल्लिषेणप्रशस्ति' भी कहते हैं और जो शक संवत १०५० में उत्कीर्ण हुआ है, उसमें निम्न प्रकारसे पाया जाता है और उससे यह मालूम होता है कि मुनिसंघके नायक आचार्य समन्तभद्रके द्वारा सर्वहितकारी जैनमार्ग इस कलिकालमें पुनः सब ओरसे भद्ररूप हुआ है—उसका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त होनेसे वह सबका हितकरनेवाला और सबका प्रेमपात्र बना है :—

> वन्द्यो भस्मक-भस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-
> दत्तोदात्तपद-स्वमन्त्र-वचन-व्याहूत-चन्द्रप्रभः।
> आचार्यस्स समन्तभद्र-गणभृद्येनेह काले कलौ
> जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः ॥

इस पद्यके पूर्वार्धमें समन्तभद्रके जीवनकी कुछ खास घटनाओंका उल्लेख है और वे हैं—१ घोर तपस्या करते समय शरीरमें 'भस्मक' व्याधिकी उत्पत्ति, २ उस व्याधिकी बड़ी बुद्धिमत्ताके साथ शान्ति, ३ पद्मावती नामकी दिव्यशक्तिके द्वारा समन्तभद्रको उदात्त (ऊँचे) पदकी प्राप्ति और ४ अपने मन्त्ररूप वचनबलसे अथवा योग-सामर्थ्यसे चन्द्रप्रभ-बिम्बकी आकृष्टि।

ये सब घटनाएँ बड़ी ही हृदयद्रावक हैं. उनके प्रदर्शन और विवेचनका इस संक्षिप्त परिचयमें अवसर नहीं है और इसलिये उन्हें 'समन्तभद्रका मुनिजीवन और आपत्काल' नामक उस निबन्धसे जानना चाहिये जो 'स्वामी समन्तभद्र' इतिहासमें ४२ पृष्ठों पर इन पंक्तियोंके लेखक-द्वारा लिखा गया है।

समन्तभद्रकी सफलताका दूसरा समुच्चय उल्लेख बेलूरतालुके-के कनड़ी शिलालेख नं० १७ (E. C. V) में पाया जाता है, जो रामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्यनायकी मन्दिरकी छतके एक पत्थरपर उत्कीर्ण है और जिसमें उसके उत्कीर्ण होनेका समय शक संवत १०५९ दिया है। इस शिलालेखमें ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि श्रुतकेवलियों तथा और भी कुछ आचार्योंके बाद समन्तभद्र स्वामी श्रीवर्द्धमान महावीरस्वामीके तीर्थकी—जैनमार्गकी—सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए हैं—

"श्रीवर्द्धमानस्वामिगलु तीर्त्थदोलु केवलिगलु ऋद्धि-प्राप्तरुं श्रुतकेवलिगलुं पलरुं सिद्धसाध्यर् तत्…(ती)र्त्थमं सहस्रगुणं माडि समन्तभद्रस्वामिगलु सन्दर…।"

वीरजिनेन्द्रके तीर्थकी अपने कलियुगी समयमें हजारगुणी वृद्धि करनेमें समर्थ होना यह कोई साधारण बात नहीं है। इससे समन्तभद्रकी असाधारण सफलता और उसके लिये उनकी अद्वितीय योग्यता, भारी विद्वत्ता एवं बेजोड़ क्षमताका पता चलता है। साथ ही, उनका महान व्यक्तित्व मूर्तिमान होकर सामने आजाता है। यही वजह है कि अकलंकदेव-जैसे महान प्रभावक आचार्यने 'तीर्थं प्राभावि काले कलौ'-जैसे शब्दों-द्वारा, कलिकालमें समन्तभद्रको इस तीर्थ-प्रभावनाका उल्लेख बड़े

गौरवके साथ किया है; यही कारण है कि श्रीजिनसेनाचार्य समन्तभद्रके वचनोंको वीरभगवानके वचनोंके समान प्रकाशमान (प्रभावादिसे युक्त) बतला रहे हैं। और शिवकोटि आचार्यने रत्नमालामें 'जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचन्द्रमाः' पदके द्वारा समंतभद्रको भगवान महावीरके ऊँचे उठते हुए शासन-समुद्रको बढ़ाने वाला चन्द्रमा लिखा है अर्थात यह प्रकट किया है कि समन्तभद्रके उदयका निमित्त पाकर वीरभगवानका तीर्थसमुद्र खूब वृद्धिको प्राप्त हुआ है और उसका प्रभाव सर्वत्र फैला है। इसके सिवाय, अकलङ्कदेवसे भी पूर्ववर्ती महान विद्वानाचार्य श्रीसिद्धसेनने 'स्वयम्भूस्तुति' नामकी प्रथम द्वात्रिंशिकामें 'अनेन सर्वज्ञ-परीक्षण-क्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः'—जैसे वाक्यके द्वारा समन्तभद्रको 'सर्वज्ञपरीक्षणक्षम' (सर्वज्ञ आप्तकी परीक्षा करनेमें समर्थ पुरुष) के रूपमें उल्लेख करते हुए और उन्हें बड़े प्रसन्नचित्तसे वीरभगवानमें स्थित हुआ बतलाते हुए, अगले एक पद्यमें वीरके उस यशकी मात्राका बड़े ही गौरवके साथ उल्लेख किया है जो उन 'अलब्धनिष्ठ' और 'प्रसमिद्धचेता' विशेषणोंके पात्र समन्तभद्र जैसे प्रशिष्योंके द्वारा प्रथित किया गया है।

अब मैं, संक्षेपमें ही इतना और बतला देना चाहता हूँ कि

१. 'वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ।'—हरिवंशपुराण

२. अलब्धनिष्ठाः प्रसमिद्धचेतसस्तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद्यशः ।
न तावदप्येकसमूह-संहताः प्रकाशयेयुः परवादिपार्थिवाः ॥ १५ ॥

सिद्धसेन-द्वारा समन्तभद्रके इस उल्लेखका विशेष परिचय प्राप्त करनेके लिये देखो, 'पुरातन-जैनवाक्य-सूची' की प्रस्तावनामें प्रकाशित 'सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन' नामका बृहत् निबन्ध पृ० १५४ ।

स्वामी समन्तभद्र एक क्षत्रिय-वंशोद्भव राजपुत्र थे. उनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत 'उरगपुर' के राजा थे[1]। वे जहां क्षत्रियोचित तेजसे प्रदीप्त थे वहाँ आत्महित-साधना और लोकहितकी भावना-से भी ओत-प्रोत थे. और इसलिये घर-गृहस्थीमें अधिक समय तक अटके नहीं रहे थे। वे राज्य-वैभवके मोहमें न फंस-कर घरसे निकल गये थे. और कांची (दक्षिणकाशी) में जाकर 'नग्नाटक' (नग्न) दिगम्बर साधु बन गये थे। उन्होंने एक परिचयपद्यमें अपनेको कांचीका 'नग्नाटक' प्रकट किया है और साथ ही निर्ग्रन्थजैनवादी भी लिखा है—भले ही कुछ परिस्थि-तियोंके वश वे कतिपय स्थानोंपर दो एक दूसरे साधु-वेष भी धारण करनेके लिये बाध्य हुए हैं. जिनका पद्यमें उल्लेख है. परन्तु वे सब अस्थायी थे और उनसे उनके मूलरूपमें कर्दमास्त-मणिके समान. कोई अन्तर नहीं पड़ा था—वे अपनी श्रद्धा और संयम-भावनामें बराबर अडोल रहे हैं। वह पद्य इस प्रकार है—

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुः[2] दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट् ।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी
राजन् यस्याऽस्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥

---

१ जैसा कि उनकी 'आप्तमीमांसा' कृतिकी एक प्राचीन ताडपत्रीय प्रतिके निम्न 'पुष्पिका वाक्यसे जाना जाता है. जो श्रवणबेल्गोलके श्रीदौर्बलिजिनदास शास्त्रीके शास्त्रभण्डारमें सुरक्षित है—

'इति श्रीफणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामिसमन्तभद्र-मुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम् ।'

२ यह पद अग्रोल्लेखित अंगणगुटकेके अनुसार 'शाकभक्षी' है।

यह पद्य भी 'पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता' नामके परिचय-पद्यकी तरह किसी राजसभामें ही अपना परिचय देते हुए कहा गया है और इसमें भी वादके लिये विद्वानोंको ललकारा गया है और कहा गया है कि 'हे राजन्! मैं तो वास्तवमें जैननिर्ग्रन्थवादी हूँ, जिस किसीकी भी मुझसे वाद करनेकी शक्ति हो वह सामने आकर वाद करे।'

पहलेसे समन्तभद्रके उक्त दो ही पद्य आत्मपरिचयको लिये हुए मिल रहे थे, परन्तु कुछ समय हुआ, 'स्वयम्भूस्तोत्र' की प्राचीन प्रतियोंको खोजते हुए, देहली-पंचायतीमन्दिरके एक अति-जीर्ण-शीर्ण गुटके परसे मुझे एक तीसरा पद्य भी उपलब्ध हुआ है, जो स्वयम्भूस्तोत्रके अन्तमें उक्त दोनों पद्योंके अनन्तर संग्रहीत है और जिसमें स्वामीजीके परिचय-विषयक दस विशेषण उपलब्ध होते हैं और वे हैं—१ आचार्य, २ कवि, ३ वादिराट्, ४ पण्डित (गमक), ५ दैवज्ञ (ज्योतिर्विद्), ६ भिषक् (वैद्य), ७ मान्त्रिक (मन्त्रविशेषज्ञ), ८ तान्त्रिक (तन्त्रविशेषज्ञ), ९ आज्ञासिद्ध और १० सिद्धसारस्वत। वह पद्य इस प्रकार है :—

आचार्योहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोहं
दैवज्ञोहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोहं ।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोहं ॥३॥

यह पद्य बड़े ही महत्वका है। इसमें वर्णित प्रथम तीन विशेषण—आचार्य, कवि और वादिराट्—तो पहलेसे परिज्ञात हैं—अनेक पूर्वाचार्योंके ग्रन्थों तथा शिलालेखोंमें इनका उल्लेख

मिलता है। चौथा 'पण्डित' विशेषण आजकलके व्यवहारमें 'कवि' विशेषणकी तरह भले ही कुछ साधारण समझा जाता हो परन्तु उस समय कविके मूल्य की तरह उसका भी बड़ा मूल्य था और वह प्रायः 'गमक' (शास्त्रोंके मर्म एवं रहस्यको समझने और दूसरोंको समझानेमें निपुण) जैसे विद्वानोंके लिये प्रयुक्त होता था। अतः यहां गमकत्व-जैसे गुणविशेषका ही वह द्योतक है। शेष सब विशेषण इस पद्यके द्वारा प्रायः नये ही प्रकाशमें आए हैं और उनसे ज्योतिष, वैद्यक, मन्त्र और तन्त्र जैसे विषयोंमें भी समन्तभद्रकी निपुणताका पता चलता है। रत्नकरण्डश्रावकाचारमें अङ्गहीन सम्यग्दर्शनको जन्मसन्ततिके छेदनमें असमर्थ बतलाते हुए, जो विषवेदनाके हरनेमें न्यूनाक्षरमंत्रकी असमर्थताका उदाहरण दिया है वह और शिलालेखों तथा ग्रन्थोंमें 'स्वमन्त्रवचन-व्याहूत-चन्द्रप्रभः'-जैसे विशेषणोंका जो प्रयोग पाया जाता है वह सब भी आपके मन्त्र-विशेषज्ञ तथा मन्त्रवादी होनेका सूचक है। अथवा यों कहिये कि आपके 'मान्त्रिक' विशेषणसे अब उन सब कथनोंकी यथार्थताको अच्छा पोषण मिलता है। इधर ९वीं शताब्दीके विद्वान उग्रादित्याचार्यने अपने 'कल्याणकारक' वैद्यक ग्रन्थमें 'अष्टाङ्गमप्यखिलमत्र समन्तभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरवचो विभवैर्विशेषात्' इत्यादि पद्य-(२०-८६) के द्वारा समन्तभद्रकी अष्टाङ्गवैद्यक-विषयपर विस्तृत रचनाका जो उल्लेख किया है उसको ठीक बतलानेमें 'भिषक्' विशेषण अच्छा सहायक जान पड़ता है।

अन्तके दो विशेषण 'आज्ञासिद्ध' और 'सिद्धसारस्वत' तो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं और उनसे स्वामी समन्तभद्रका असाधारण व्यक्तित्व बहुत कुछ सामने आजाता है। इन विशेषणोंको प्रस्तुत करते हुए स्वामीजी राजाको सम्बोधन करते

हुए कहते हैं कि—हे राजन! मैं इस समुद्र-वलया पृथ्वी पर 'आज्ञासिद्ध' हूँ—जो आदेश दूँ वही होता है। और अधिक क्या कहा जाय, मैं 'सिद्धसारस्वत' हूँ—सरस्वती मुझे सिद्ध है। इस सरस्वतीकी सिद्धि अथवा वचनसिद्धिमें ही समन्तभद्रकी उस सफलताका सारा रहस्य संनिहित है जो स्थान स्थान पर वादघोषणाएँ करने पर उन्हें प्राप्त हुई थी और जिसका कुछ विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

समन्तभद्रकी वह सरस्वती (वाग्देवी) जिनवाणी माता थी, जिसकी अनेकान्तदृष्टि-द्वारा अनन्य-आराधना करके उन्होंने अपनी वाणीमें वह अतिशय प्राप्त किया था जिसके आगे सभी नतमस्तक होते थे और जो आज भी सहृदय-विद्वानोंको उनकी ओर आकर्षित किये हुए है।

समन्तभद्र, श्रद्धा और गुणज्ञता दोनोंको साथमें लिये हुए, बहुत बड़े अर्हद्भक्त थे. अर्हद्गुणोंकी प्रतिपादक सुन्दर सुन्दर स्तुतियां रचनेकी ओर उनकी बड़ी रुचि थी और उन्होंने स्तुति-विद्यामें **'सुस्तुत्यां व्यसनं'** वाक्यके द्वारा अपनेको वैसी स्तुतियां रचनेका व्यसन बतलाया है। उनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें अधिकांश ग्रन्थ स्तोत्रोंके ही रूपको लिये हुए हैं और उनसे उनकी अद्वितीय अर्हद्भक्ति प्रकट होती है। 'स्तुतिविद्या' को छोड़कर स्वयम्भूस्तोत्र, देवागम और युक्त्यनुशासन ये तीन तो आपके खास स्तुतिग्रन्थ हैं। इनमें जिस स्तोत्र-प्रणालीसे तत्त्वज्ञान भरा गया है और कठिनसे कठिन तात्त्विक विवेचनोंको योग्य स्थान दिया गया है वह समन्तभद्रसे पहलेके ग्रन्थोंमें प्रायः नहीं पाई जाती। समन्तभद्रने अपने स्तुतिग्रन्थोंके द्वारा स्तुतिविद्याका खास तौरसे उद्धार, संस्कार और विकास किया है, और इसी लिये वे 'स्तुतिकार'

कहलाते थे। उन्हें 'आद्यस्तुतिकार' होनेका भी गौरव प्राप्त था[१]। अपनी इस अर्हद्भक्ति और लोकहितसाधनकी उत्कट भावनाओंके कारण वे आगेको इस भारतवर्षमें 'तीर्थङ्कर' होनेवाले हैं, ऐसे भी कितने ही उल्लेख अनेक ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं[२]। साथ ही ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जो उनके 'पदर्द्धिक' अथवा 'चारणऋद्धि' से सम्पन्न होनेके सूचक हैं[३]।

श्रीसमन्तभद्र 'स्वामी' पदसे खास तौरपर अभिभूषित थे और यह पद उनके नामका एक अंग ही बन गया था। इसीसे विद्यानन्द और वादिराजसूरि जैसे कितने ही आचार्यों तथा पं० आशाधरजी जैसे विद्वानोंने अनेक स्थानोंपर केवल 'स्वामी' पदके प्रयोग-द्वारा ही उनका नामोल्लेख किया है। निःसन्देह यह पद उस समयकी दृष्टिसे[४] आपकी महती प्रतिष्ठा और असाधारण महत्ताका द्योतक है। आप सचमुच ही विद्वानोंके स्वामी थे, त्यागियोंके स्वामी थे, तपस्वियोंके स्वामी थे, योगियोंके स्वामी थे, ऋषि-मुनियोंके स्वामी थे, सद्गुणियोंके स्वामी थे, सत्कृतियोंके स्वामी थे और लोक-हितैषियोंके स्वामी थे। आपने अपने अवतारसे इस भारतभूमि-को विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीमें पवित्र किया है। आपके अवतारसे भारतका गौरव बढ़ा है और इसलिये श्री शुभचन्द्रा-चार्यने, पाण्डवपुराणमें, आपको जो 'भारतभूषण' लिखा है वह सब तरह यथार्थ ही है।

देहली जुगलकिशोर मुख्तार

ता० ४-७-१९५१

१-३ देखो, स्वामी समन्तभद्र पृ० ६६, ६२, ७१ (फुटनोट)

४ आजकल तो 'कवि' और 'पण्डित' पदोंकी तरह 'स्वामी' पदका भी दुरुपयोग होने लगा है।

विषय-सूची

मंगलाचरण

तीर्थं सर्व-पदार्थ-तत्त्व-विषय-स्याद्वाद-पुण्योदधे-
र्भव्यानामकलंकभाव-कृतये प्राभावि काले कलौ ।
येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः सन्ततं
कृत्वा तत्स्वधिनायकं जिनपतिं वीरं प्रणौमि स्फुटम् ।।

❋ ❋ ❋

येनाऽशेष-कुनीति-वृत्ति-सरितः प्रेक्षावतां शोषिताः
यद्वाचोऽप्यकलङ्क-नीति-रुचिरास्तत्त्वार्थ-सार्थ-द्युतः ।
स श्रीस्वामि-समन्तभद्र-यतिभृद्भूयाद्विभुर्भानुमान्
विद्यानन्द-घन-प्रदोऽनघधियां स्याद्वाद-मार्गाग्रणीः ।।

❋ ❋ ❋

श्रीवर्द्धमानमभिनम्य समन्तभद्रं
सद्बोध-चारु-चरिताऽनघ-वाक्स्वरूपम् ।
तस्य स्वयम्भु-कृतिमप्रतिमां गुणाढ्यां
व्याख्यामि लोक-हित-शान्ति-विवेक-वृद्धयै ।।

——

ॐ

श्रीसमन्तभद्राय नमः

श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्य-विरचित

चतुर्विंशति-जिन-स्तवनात्मक

स्वयम्भू-स्तोत्र

अनुवादादि-सहित

—:*:०:*:—

१

श्रीवृषभ-जिन-स्तवन

+*****+

स्वयम्भुवा भूत-हितेन भूतले
समञ्जस-ज्ञान-विभूति-चक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तमः
क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥१॥

'जो स्वयम्भू थे—स्वय ही, बिना किसी दूसरेके उपदेशके, मोक्ष-मार्गको जानकर तथा उसका अनुष्ठान करके आत्म-विकासको प्राप्त हुए

थे—प्राणियोंके हितकी—संसारी जीवोंके आत्मकल्याणकी—भावना एवं परिणतिसे युक्त साक्षात् भूतहितकी मूर्ति थे, सम्यग्ज्ञान-की विभूतिरूप—सर्वज्ञतामय—(अद्वितीय) नेत्रके धारक थे, और अपने गुणसमूहरूप-हाथोंसे—अबाधितत्व और यथावस्थित अर्थ-प्रकाशकत्व आदि गुणोंके समूहवाले वचनोंसे—अन्धकारको—जगतके भ्रान्ति एवं दुःख-मूलक अज्ञानको—दूर करते हुए, पृथ्वीतलपर ऐसे शोभायमान होते थे जैसे कि अपनी अर्थ-प्रकाशकत्वादिगुण-विशिष्ट किरणोंसे रात्रिके अन्धकारको दूर करता हुआ पूर्ण-चन्द्रमा सुशोभित होता है।'

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो
ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥२॥

'जिन्होंने (वर्तमान अवसर्पिणी कालके) प्रथम प्रजापतिके रूपमें देश, काल और प्रजा-परिस्थितिके तत्त्वोंको अच्छी तरहसे जानकर, जीनेकी—जीवनोपायको जाननेकी—इच्छा रखनेवाले प्रजाजनोंको सबसे पहले कृषि आदि कर्मोंमें शिक्षित किया—उन्हें खेती करना, शस्त्र चलाना, लेखन-कार्य करना, विद्या-शास्त्रोंको पढ़ना, दस्तकारी करना तथा वनज-व्यापार करना सिखलाया—; और फिर हेयो-पादेय तत्त्वका विशेष ज्ञान प्राप्त करके आश्चर्यकारी उदय (उत्थान अथवा प्रकाश) को प्राप्त होते हुए जो ममत्वसे ही विरक्त होगये—प्रजाजनों, कुटुम्बीजनों, स्वशरीर तथा भोगोंसे ही जिन्होंने ममत्व-बुद्धि (आसक्ति) को हटा लिया। और इस तरह जो तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ हुए।'

विहाय यः सागर-वारि-वाससं
वधूमिवेमां वसुधा-वधूं सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान्
प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥३॥

'जो मुमुक्षु थे—मोक्ष-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले अथवा संसार-समुद्रसे पार उतरनेके अभिलाषी थे—, **आत्मवान् थे**—इन्द्रियोंको स्वाधीन रखने वाले आत्मवशी थे—, **और** (इसलिये) **प्रभु थे**—स्वतंत्र थे। **जिन** (विरक्त हुए) **इक्ष्वाकु-कुलके आदिपुरुषने, सती वधूको**—अपने ऊपर एक निष्ठासे प्रेम रखनेवाली सुशीला महिलाको—**और उसी तरह इस सागर-वारि-वसना वसुधावधूको**—सागरका जल ही है वस्त्र जिसका ऐसी स्वभोग्या समुद्रान्त पृथ्वीको—**भी, जो कि** (युगकी आदिमें) **सती**—सुशीला थी—अच्छे सुशील पुरुषोंसे आबाद थी—, **त्याग करके दीक्षा धारण की।** (दीक्षा धारण करनेके अनन्तर) **जो सहिष्णु हुए**—भूख-प्यास आदिकी परीषहोंसे अजेय रहकर उन्हें सहनेमें समर्थ हुए—, **और** (इसीलिये) **अच्युत रहे**—अपने प्रतिज्ञात (प्रतिज्ञारूप परिणत) व्रत-नियमोंसे चलायमान नहीं हुए। (जबकि दूसरे कितने ही मानहत राजा, जिन्होंने स्वामिभक्तिसे प्रेरित होकर आपके देखादेखी दीक्षा ली थी, मुमुक्षु, आत्मवान, प्रभु तथा सहिष्णु न होनेके कारण, अपने प्रतिज्ञात व्रतोंसे च्युत और भ्रष्ट होगये थे)।'

स्व-दोष-मूलं स्व-समाधि-तेजसा
निनाय यो निर्दय-भस्मसात्क्रियाम् ।

जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा
बभूव च ब्रह्म-पदाऽमृतेश्वरः ॥४॥

'(तपश्चरण करते हुए) जिन्होंने अपने आत्मदोषोंके—आत्म-सम्बन्धी राग-द्वेष-काम-क्रोधादिविकारोंके—मूलकारणको—घातिकर्मचतुष्टयको—अपने समाधि-तेजसे—शुक्लध्यानरूपी प्रचण्ड अग्निसे—निर्दयतापूर्वक पूर्णतया भस्मीभूत कर दिया। तथा (ऐसा करनेके अनन्तर) जिन्होंने तत्त्वाभिलाषी जगतको तत्त्वका सम्यक् उपदेश दिया—जीवादि तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप बतलाया। और (अन्तको) जो ब्रह्मपदरूपी अमृतके—स्वात्मस्थितिरूप मोक्ष-दशामें प्राप्त होनेवाले अविनाशी अनन्त सुखके—ईश्वर हुए—स्वामी बने।'

स विश्व-चक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां
समग्र-विद्याऽऽत्म-वपुर्निरञ्जनः।
पुनातु चेतो मम नाभि-नन्दनो
जिनो†ऽजित-क्षुल्लक-वादि-शासनः ॥५॥

'(इस तरह) जो सम्पूर्ण कर्म-शत्रुओंको जीतकर 'जिन' हुए, जिनका शासन क्षुल्लकवादियोंके—अनित्यादि सर्वथा एकान्त पक्षका प्रतिपादन करनेवाले प्रवादियोंके—द्वारा अजेय था. और जो सर्वदर्शी हैं. सर्वविद्यात्मशरीरी हैं—पुद्गलपिण्डमय शरीरके अभावमें जीवादि सम्पूर्ण पदार्थोंको अपना साक्षात् विषय करनेवाली केवलज्ञानरूप पूर्ण-विद्या (सर्वज्ञता) ही जिनका आत्मशरीर है—. जो सत्पुरुषोंसे पूजित हैं. और निरञ्जन पदको प्राप्त हैं—ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म. शरीरादि

† 'जिन-क्षुल्लक-वादि-शासनः' इति पाठान्तरम्।

नोकर्म तथा राग-द्वेषादि भावकर्मरूपी त्रिविध कर्म-कालिमासे सर्वथा रहित होकर आवागमनसे विमुक्त हो चुके हैं—, वे (उक्त गुण-विशिष्ट) नाभिनन्दन—चौदहवें कुलकर (मनु) श्रीनाभिरायके पुत्र—श्रीवृषभदेव—धर्मतीर्थके आद्य-प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर श्रीआदिनाथ भगवान्—मेरे अन्तःकरणको पवित्र करें—उनके स्तवन एवं स्वरूप-चिन्तनके प्रसादसे मेरे हृदयको कलुषित तथा मलिन करनेवाली कषाय भावनाएँ शान्त होजायँ।'

२

श्रीअजित-जिन-स्तवन

यस्य प्रभावात् त्रिदिव-च्युतस्य
क्रीडास्वपि क्षीबमुखाऽरविन्दः ।
अजेय-शक्तिर्भुवि बन्धु-वर्गश्चकार
नामाऽजित इत्यवन्ध्यम् ॥ १ ॥

'जो देवलोकसे अवतरित हुए थे और इतने प्रभावशाली थे कि उनकी क्रीडाओंमें—बाल-लीलाओंमें—भी उनका बन्धुवर्ग—कुटुम्बसमूह—हर्षोन्मत्त-मुखकमल होजाता था, तथा जिनके माहात्म्यसे वह बन्धुवर्ग पृथ्वीपर अजेय-शक्तिका धारक हुआ—उसे कोई भी जीत नहीं सका—और (इसलिये) उस बन्धुवर्गने जिनका 'अजित'† ऐसा सार्थक अथवा अन्वर्थक नाम रक्खा।'

---

† 'न केनचिर्जीयते (अन्तरंगैर्बाह्यैश्च शत्रुभिर्न जीयते वा) इत्यजितः अतएव अवन्ध्यमन्वर्थम्।' —प्रभाचन्द्रः

अद्याऽपि यस्याऽजितशासनस्य
सतां प्रणेतुः प्रतिमङ्गलार्थम् ।
प्रगृह्यते नाम परम-पवित्रं
स्वसिद्धि-कामेन जनेन लोके ॥ २ ॥

'जिनका शासन—अनेकान्तमत—अजेय था—सर्वथा एकान्तमतावलम्बी परवादीजन जिसे जीतनेमें असमर्थ थे—और जो सत्पुरुषोंके—भव्यजनोंके—प्रधान नेता थे—उन्हें आत्मकल्याणके समीचीन मार्गमें प्रवृत्त करानेवाले थे—उन अजित तीर्थङ्करका परमपवित्र—पापक्षयकारक और पुण्यवर्धक—नाम आज भी—असंख्यात काल बीत जानेपर भी—लोकमें अपनी इष्टसिद्धिरूप विजयके इच्छुक जनसमूहके द्वारा प्रत्येक मंगलके लिये—अपनी किसी भी इष्टसिद्धिके निमित्त—सादर ग्रहण किया जाता है—भव्यजनोंकी दृष्टिमें वह बराबर महत्त्व-पूर्ण बना हुआ है।'

यः प्रादुरासीत्प्रभु-शक्ति-भूम्ना
भव्याऽऽशयालीन-कलङ्क-शान्त्यै ।
महामुनिर्मुक्त-घनोपदेहो
यथाऽरविन्दाऽभ्युदयाय भास्वान् ॥ ३ ॥

'घातिया कर्मोंके आवरणादिरूप उपलेपसे मुक्त जो महामुनि (गणधरादि-मुनियोंके अधिपति) भव्यजनोंके हृदयोंमें संलग्न हुए कलङ्कोंकी—अज्ञानादि-दोषों तथा उनके कारणीभूत ज्ञानावरणादि-कर्मोंकी—शान्तिके लिये—उन्हें समूल नष्ट कर भव्यजनोंका आत्म-विकास सिद्ध करनेके लिये—जगत्का उपकार करनेमें समर्थ अपनी वचनादि

शक्तिकी सम्पत्तिके साथ उसी प्रकार प्रादूर्भूत हुए जिस प्रकार कि मेघोंके आवरणसे मुक्त हुआ सूर्य कमलोंके अभ्युदयके लिये—उनके अन्तः अन्धकारको दूर कर उन्हें विकसित करनेके लिये—अपनी प्रकाशमय समर्थ शक्ति-सम्पत्तिके साथ प्रकट होता है।'

येन प्रणीतं पृथु धर्म-तीर्थं ज्येष्ठं
जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम् ।
गाङ्गं ह्रदं चन्दन-पङ्क-शीतं
गज-प्रवेका इव घर्म-तप्ताः ॥ ४ ॥

'(उक्त प्रकारसे प्रादुर्भूत होकर) जिन्होंने उस धर्मतीर्थका—सम्यग्दर्शनादि-रत्नत्रय, उत्तमक्षमादि-दशलक्षण और सामायिकादि-पंच प्रकार चारित्र-धर्मके प्रतिपादक आगमतीर्थका—प्रणयन किया—प्रकाशन किया—जो महान है—सम्पूर्ण पदार्थोंके स्वरूप-प्रतिपादनकी दृष्टिसे विशाल है—, ज्येष्ठ है—समस्त धर्मतीर्थोंमें प्रधान है—और जिसका आश्रय पाकर भव्यजन (संसार-परिभ्रमण-जन्य) दुःख-सन्तापपर उसी प्रकार विजय प्राप्त करते हैं—उससे छूट जाते हैं—जिस प्रकार कि ग्रीष्मकालीन सूर्यके आतापसे सन्तप्त हुए बड़े बड़े हाथी चन्दनलेपके समान शीतल गङ्गाद्रहको प्राप्त होकर अथवा गंगाके अगाध जलमें प्रवेश करके सूर्यके आतापजन्य दुःखको मिटा डालते हैं।'

स ब्रह्मनिष्ठः सम-मित्र-शत्रु-
र्विद्या-विनिर्वान्त-कषाय-दोषः ।

लब्धात्मलक्ष्मीरजितोऽजितात्मा
जिन-श्रियं † मे भगवान् विधत्ताम् ॥५॥(१०)

'जो **ब्रह्मनिष्ठ थे**—अनन्य-श्रद्धाके साथ आत्मामें अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठा किये हुए थे—, (इसीसे) **सम-मित्र-शत्रु थे**—मित्र और शत्रुमें कोई भेद-भाव न करके उन्हें आत्मदृष्टिसे समान अवलोकन करते थे—, **आत्मीय कषाय-दोषोंको जिन्होंने सम्यग्ज्ञानाऽनुष्ठानरूप विद्याके द्वारा पूर्णतया नष्ट कर दिया था**—आत्मापरसे उनके आधिपत्यको बिल्कुल हटा दिया था—,(और इसीसे) **जो लब्धात्मलक्ष्मी हुए थे**—अनन्तज्ञानादि आत्मलक्ष्मीरूप जिनश्रीको जिन्होंने पूर्णतया स्वाधीन किया था—; (इस प्रकारके गुणोंसे विभूषित) **वे अजितात्मा**—इन्द्रियोंके आधीन न होकर आत्मस्वरूपमें स्थित—**भगवान अजित-जिन मेरे लिये जिन-श्रीका**—शुद्धात्म-लक्ष्मीकी प्राप्तिका—**विधान करें**। अर्थात् मैं, उनके आराधन-भजन-द्वारा उन्हींका आदर्श सामने रखकर, अपनी आत्माको कर्म-बन्धनसे छुड़ाता हुआ पूर्णतया स्वाधीन करनेमें समर्थ होऊँ, और इस तरह जिन-श्रीको प्राप्त करनेमें वे मेरे सहायक बनें।'

† 'जिनः श्रियं' इति पाठान्तरम्।

३

श्रीशम्भव-जिन-स्तवन

त्वं शम्भवः † सम्भव-तर्ष-रोगैः
सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाऽऽकस्मिक एव वैद्यो
वैद्यो यथाऽनाथरुजां प्रशान्त्यै ॥१॥

'(अन्वर्थ-संज्ञाके धारक ‡) हे शम्भव-जिन ! सांसारिक तृष्णा-रोगोंसे प्र-पीडित जनसमूहके लिये आप इस लोकमें उसी प्रकार आकस्मिक वैद्य हुए हैं जिस प्रकार कि अनाथोंके—द्रव्यादि-सहाय-विहीनोंके—रोगोंकी शान्तिके लिये कोई चतुर वैद्य अचानक आ जाता है—और अपने लिये चिकित्साके फलस्वरूप धनादिकी कोई अपेक्षा न रखकर उन रोगोंको चिकित्सा करके उन्हें नीरोग बनानेका पूर्ण प्रयत्न करता है।'

अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः
प्रसक्त-मिथ्याऽध्यवसाय-दोषम् ।
इदं जगज्जन्म-जराऽन्तकार्त्तं
निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वम् ॥२॥

† 'संभवः' इति पाठान्तरम् ।

‡ 'शम्भव इत्यन्वर्थेयं संज्ञा । शं सुखं भवत्यस्माद्भव्यानां इति शम्भवः—(जिनसे भव्योंको सुख होवे वे 'शम्भव') ।' —प्रभाचन्द्राचार्य

'यह (दृश्यमान) जगत, जो कि अनित्य है, अशरण है, अहंकार-ममकारकी क्रियाओंके द्वारा संलग्न मिथ्या अभिनिवेशके दोषसे दूषित है और जन्म-जरा-मरणसे पीडित है, उसको (हे शम्भवजिन!) आपने निरञ्जना—कर्म-मलके उपद्रवसे रहित मुक्ति-स्वरूपा—शान्तिकी प्राप्ति कराई है—उसे उस शान्तिके मार्गपर लगाया है जिसके फलस्वरूप कितनोंने ही चिर-शान्तिकी प्राप्ति की है।'

शतह्रदोन्मेष-चलं हि सौख्यं
तृष्णाऽऽमयाऽप्यायन-मात्र-हेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं
तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥३॥

'आपने पीडित जगतको उसके दुःखका यह निदान बतलाया है कि—इन्द्रिय-विषय-सुख बिजलीकी चमकके समान चञ्चल है—क्षणभर भी स्थिर रहनेवाला नहीं है—और तृष्णारूपी रोगकी वृद्धिका एकमात्र हेतु है—इन्द्रिय-विषयोंके सेवनसे तृप्ति न होकर उलटी तृष्णा बढ़ जाती है—, तृष्णाकी अभिवृद्धि निरन्तर ताप उत्पन्न करती है और वह ताप जगतको (कृषि-वाणिज्यादि-कर्मोंमें प्रवृत्त कराकर) अनेक दुःख-परम्परासे पीडित करता रहता है।'

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू*
बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।
स्याद्वादिनो नाथ! तवैव युक्तं
नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥४॥

* 'हेतुः' इति पाठन्तरम् ।

'बन्ध, मोक्ष, बन्ध और मोक्षके कारण, बद्ध और मुक्त तथा मुक्तिका फल, इन सब बातोंकी व्यवस्था हे नाथ! आप स्याद्वादी-अनेकान्तदृष्टिके मतमें ही ठीक बैठती है, एकान्तदृष्टियोंके—सर्वथा एकान्तवादियोंके—मतोंमें नहीं। अतएव आप ही 'शास्ता'—तत्त्वोपदेष्टा—हैं। दूसरे कुछ मतोंमें ये बातें ज़रूर पाई जाती हैं, परन्तु कथनमात्र हैं, एकान्त-सिद्धान्तको स्वीकृत करनेसे उनके यहाँ बन नहीं सकतीं; और इसलिये उनके उपदेष्टा ठीक अर्थमें 'शास्ता' नहीं कहे जा सकते।'

शक्रोऽप्यशक्तस्तव पुण्यकीर्तेः
स्तुत्यां प्रवृत्तः किमु मादृशोऽज्ञः।
तथाऽपि भक्त्या स्तुत-पाद-पद्मो
ममार्य! देयाः शिवतातिमुच्चैः† ॥५॥ (१५)

'हे आर्य!—गुणों तथा गुणवानोंके द्वारा सेव्य शम्भव जिन!—आप पुण्यकीर्ति हैं—आपकी कीर्ति-ख्याति तथा जीवादि पदार्थोंका कीर्तन-प्रतिपादन करनेवाली वाणी पुण्या-प्रशस्ता है—निर्मल है—, आपकी स्तुतिमें प्रवृत्त हुआ शक्र—अवधिज्ञानादिकी शक्तिसे सम्पन्न इन्द्र—भी अशक्त रहा है—पूर्णरूपसे स्तुति करनेमें समर्थ नहीं हो सका है—, फिर मेरे जैसा अज्ञानी—अवधि आदि विशिष्टज्ञानरहित प्राणी—तो कैसे समर्थ हो सकता है? परन्तु असमर्थ होते हुए भी मेरे द्वारा आपके पदकमल भक्तिपूर्वक—पूर्णअनुरागके साथ—स्तुति किये गये हैं। (अतः) आप मुझे ऊँचे दर्जेकी शिवसन्तति प्रदान करें अर्थात् मेरे लिये ऊँचे दर्जेकी शिवसन्तति—कल्याणपरम्परा—देय है—मैं उसको प्राप्त करनेका पात्र हूँ, अधिकारी हूँ।'

---

† 'देया शिवतातिरुच्चैः', यह पाठ अधिक संगत जान पड़ता है।

४

श्रीअभिनन्दन-जिन-स्तवन

गुणाऽभिनन्दादभिनन्दनो भवान्
दया-वधूं क्षान्ति-सखीमशिश्रियत् ।
समाधि-तन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन
नैर्ग्रन्थ्य-गुणेन चाऽयुजत् ॥ १ ॥

'(हे अभिनन्दन जिन!) गुणोंकी अभिवृद्धिसे—आपके जन्म लेते ही लोकमें सुख-सम्पत्त्यादिक गुणोंके बढ़ जानेसे—आप 'अभिनन्दन' इस सार्थक संज्ञाको प्राप्त हुए हैं। आपने क्षमा-सखीवाली दयावधू-को अपने आश्रयमें लिया है—दया और क्षमा दोनोंको अपनाया है—और समाधिके—शुक्लध्यानके—लक्ष्यको लेकर उसकी सिद्धिके लिये आप उभय प्रकारके निर्ग्रन्थत्वके गुणसे युक्त हुए हैं—आपने बाह्य-आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहका त्याग किया है।'

अचेतने तत्कृत-बन्धजेऽपि च
ममेदमित्याभिनिवेशिक-ग्रहात् ।
प्रभंगुरे स्थावर-निश्चयेन च
क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहद्भवान् ॥ २ ॥

'अचेतन-शरीरमें और शरीर-सम्बन्धसे अथवा शरीरके साथ किया गया आत्माका जो कर्मवश बन्ध है उससे उत्पन्न होने वाले सुख-दुःखादिक तथा स्त्री-पुत्रादिकमें 'यह मेरा है—मैं इसका

हूँ' इस प्रकारके अभिनिवेश(मिथ्या अभिप्राय)को लिये हुए होनेसे तथा क्षणभंगुर पदार्थोंमें स्थायित्वका निश्चय कर लेनेके कारण जो जगत् नष्ट होरहा है---आत्महित-साधनसे विमुख होकर अपना अकल्याण कर रहा है— उसे (हे अभिनन्दन जिन !) आपने तत्त्वका ग्रहण कराया है—जीवादि-तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको बतलाकर सन्मार्ग-पर लगाया है।'

क्षुदादि-दुःख-प्रतिकारतः स्थिति-
र्न चेन्द्रियार्थ-प्रभवाऽल्प-सौख्यतः।
ततो गुणो नास्ति च देह-देहिनो-
रितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ॥ ३ ॥

'क्षुधादि-दुःखोंके प्रतिकारसे—भूख प्यास आदिकी वेदनाको मिटानेके लिये भोजन-पानादिका सेवन करनेसे—और इन्द्रियविषय-जनित स्वल्प सुखके अनुभवनसे देह और देहधारीका सुखपूर्वक सदा अवस्थान नहीं बनता—थोड़ी ही देरकी तृप्तिके बाद भूख-प्यासादिककी वेदना फिर उत्पन्न होजाती है और इन्द्रिय-विषयोंके सेवनकी लालसा अग्निमें ईंधनके समान तीव्रतर होकर पीड़ा उत्पन्न करने लगती है। ऐसी हालतमें क्षुधादि-दुःखोंके इस क्षणस्थायी प्रतीकार और इन्द्रिय-विषय-जन्य स्वल्प-सुखके सेवनसे न तो वास्तवमें इस शरीरका कोई उपकार बनता है और न शरीरधारी आत्माका ही कुछ भला होता है; इस प्रकारकी विज्ञापना हे भगवन्! आपने इस (भ्रमके चक्करमें पड़े हुए) जगतको की है—उसे तत्त्वका ग्रहण कराते हुए रहस्यकी यह सब बात समझाई है, जिससे आसक्ति छूट कर परम कल्याणकारी अनासक्त-योगकी ओर प्रवृत्ति होसके।'

जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो
भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते ।
इहाऽप्यमुत्राऽप्यनुबन्धदोषवित्
कथं सुखे संसजतीति चाऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

'आपने जगतको यह भी बतलाया है कि अनुबन्ध-दोषसे—परमासक्तिके वश—विषय-सेवनमें अति लोलुपी हुआ भी मनुष्य इस लोकमें राजदण्डादिका भय उपस्थित होनेपर अकार्योंमें—परस्त्रीसेवनादि जैसे कुकर्मोंमें—प्रवृत्त नहीं होता, फिर जो मनुष्य इस लोक तथा परलोकमें होनेवाले विषयासक्तिके दोषोंको—भयंकर परिणामोंको—भलेप्रकार जानता है वह कैसे विषय-सुखमें आसक्त होसकता है ?—नहीं हो सकता।—अत्यासक्तिके इस लोक और पर-लोक-सम्बन्धी भयंकर परिणामोंका स्पष्ट अनुभव न होना ही विषय-सुखमें आसक्तिका कारण है। अतः अनुबन्धके दोषको जानना चाहिये।'

स चानुबन्धोऽस्य जनस्य तापकृत्
तृषोऽभिवृद्धिः सुखतो न च स्थितिः ।
इति प्रभो ! लोक-हितं यतो मतं
ततो भवानेव गतिः सतां मतः ॥५॥ (२०)

'वह अनुबन्ध—आसक्तपन—और (विषयसेवनसे उत्पन्न होने-वाली) तृष्णाकी अभिवृद्धि—उत्तरोत्तर विषय-सेवनकी आकांक्षा—इस लोलुपी प्राणीके लिये तापकारी (कष्टप्रद) है—इच्छित वस्तुके न मिलनेपर उसकी प्राप्तिके लिये और मिल जानेपर उसके संरक्षणादिके अर्थ संतापकी परम्परा बराबर चालू रहती है—दुःखकी अनन्ती चिन्ताएँ-

आकुलताएँ सदा घेरे रहती हैं। संताप-परम्पराके बराबर चालू रहनेसे प्राप्त हुए थोड़ेसे इन्द्रिय-विषय-सुखसे इस प्राणीकी स्थिति सुख-पूर्वक नहीं बनती। इस प्रकार लोकहितके प्रतिपादनको लिए हुए चूँकि आपका मत है—शासन है—इस लिये हे अभिनन्दन प्रभु! आप ही जगत्के शरणभूत हैं, ऐसा सत्पुरुषोंने—मुक्तिके अर्थी विवेकी जनोंने—माना है।'

५

श्रीसुमति-जिन-स्तवन

अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वं
स्वयं मतं येन सुयुक्ति-नीतम्।
यतश्च शेषेषु मतेषु नास्ति
सर्व-क्रिया-कारक-तत्त्व-सिद्धिः ॥ १ ॥

'हे सुमति मुनि! आपकी 'सुमति' (श्रेष्ठ-सुशोभन-मति) यह संज्ञा अन्वर्थक है—आप यथा नाम तथा गुण हैं—; क्योंकि एक तो आपने स्वयं ही—बिना किसीके उपदेशके—सुयुक्तिनीत तत्त्वको माना है—उस अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्वको अंगीकार किया है जो अकाट्य युक्तियोंके द्वारा प्रणीत और प्रतिष्ठित है—; दूसरे आपके (अनेकान्त) मतसे भिन्न जो शेष एकान्त मत हैं उनमें सम्पूर्ण क्रियाओं तथा कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंके तत्त्वकी सिद्धि—उनके स्वरूपकी

उत्पत्ति अथवा ज्ञप्ति—नहीं बनती। (कैसे नहीं बनती, यह बात 'सुयुक्तिनीत-तत्त्व' को स्पष्ट करते हुए अगली कारिकाओंमें बतलाई गई है)।'

अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं
भेदाऽन्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्।
मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे
तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ॥२२॥

'वह सुयुक्तिनीत वस्तुतत्त्व भेदाऽभेद-ज्ञानका विषय है और अनेक तथा एकरूप है—भेदज्ञानकी—पर्यायकी—दृष्टिसे अनेकरूप है तो वही अभेदज्ञानकी—द्रव्यकी—दृष्टिसे एकरूप है—और यह वस्तुको भेद-अभेदरूपसे ग्रहण करनेवाला ज्ञान ही सत्य है—प्रमाण है। जो लोग इनमेंसे एकको ही सत्य मानकर दूसरेमें उपचारका व्यवहार करते हैं वह मिथ्या है; क्योंकि (दोनोंका परस्पर अविना-भाव सम्बन्ध होनेसे) दोनोंमेंसे एकका अभाव माननेपर दूसरेका भी अभाव हो जाता है। दोनोंका अभाव हो जानेसे वस्तुतत्त्व अनुपाख्य—निःस्वभाव हो जाता है—और तब वह न तो एकरूप रहता है और न अनेकरूप। स्वभावका अभाव होनेसे उसे किसी रूपसे कह नहीं सकते, और इससे सम्पूर्ण व्यवहारका ही लोप ठहरता है।'

सतः कथञ्चित्तदसत्त्व-शक्तिः
खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम्।
सर्व-स्वभाव-च्युतमप्रमाणं
स्व-वाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥ २३ ॥

'जो सत है—स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे विद्यमान है—उसके

कथंचित् असत्वशक्ति भी होती है—परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा वह असत् है—: जैसे पुष्प वृक्षोंपर तो अस्तित्वको लिये हुए प्रसिद्ध है परन्तु आकाशपर उसका अस्तित्व नहीं है, आकाशकी अपेक्षा वह असत्-रूप है—यदि पुष्प-वस्तु सर्वथा सत्रूप हो तो आकाशके भी पुष्प मानना होगा और यदि सर्वथा असत्रूप हो तो वृक्षोंपर भी उसका अभाव कहना होगा। परन्तु यह मानना और कहना दोनों ही प्रतीतिके विरुद्ध होनेसे ठीक नहीं है। इसपरसे यह फलित होता है कि वस्तु-तत्त्व कथंचित् सत्रूप और कथंचित असत्रूप है—स्वद्रव्यादि-चतुष्टयकी अपेक्षा जहाँ सत्स्वरूप है वहाँ पर-द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा असत्रूप भी है। किसी भी वस्तुके स्वरूपकी प्रतिष्ठा उस वक्त तक नहीं बन सकती जब तक कि उसमेंसे पररूपका निषेध न किया जाय। आम्र-फलको अनार, सन्तरा या अंगूर क्यों नहीं कहते ? इसी लिये न कि उसमें अनारपन, सन्तरापन, तथा अंगूरपन नहीं है—वह अपनेमें उनके स्वरूप-का प्रतिषेधक है। जो अपनेमें पररूपका प्रतिषेधक नहीं वह स्व-स्वरूपका प्रस्थापक भी नहीं हो सकता। इसीसे प्रत्येक वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्म होते हैं और वे परस्पर अविनाभावी होते हैं—एकके बिना दूसरेका सद्भाव बन नहीं सकता।

यदि वस्तुतत्त्वको सर्वथा स्वभावच्युत माना जाय—उसमें अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व आदि धर्मोंका सर्वथा अभाव स्वीकार किया जाय—तो वह अप्रमाण ठहरता है—उस तत्त्वका तब कोई व्यवस्थापक नहीं रहता। इसीसे (हे सुमति जिन !) आपकी दृष्टिमें सर्व-जीवादि तत्त्व कथंचित् सत्-असत्रूप अनेकान्तात्मक हैं। इस मतसे भिन्न—दूसरा सत्त्वाद्वैतलक्षण अथवा शून्यतैकान्तस्वभावरूप जो एकान्त तत्त्व है—मत है—वह स्ववचनविरुद्ध है—उसकी प्रमाणता बतलानेमें प्रमाण-

की सत्ता स्वीकार करनेसे उस मतके प्रतिपादकोंके 'मेरी माँ बाँझ' की तरह-स्ववचन-विरोध आता है, अर्थात सत्ताद्वैतवादियोंके द्वैतापत्ति होकर उनकी अद्वैतता भंग हो जाती है और शून्यतैकान्तवादियोंके प्रमाणका अस्तित्व होकर सर्वशून्यता बनी नहीं रहती—विघट जाती है। और प्रमाणका अस्तित्व स्वीकार न करनेसे स्वपक्षका साधन और परपक्षका दूषण बन नहीं सकता—वह निराधार ठहरता है।'

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति
न च क्रिया-कारकमत्र युक्तम्।
नैवाऽसतो जन्म सतो न नाशो
दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥ ४ ॥

'यदि वस्तु सर्वथा—द्रव्य और पर्याय दोनों रूपसे—नित्य हो तो वह उदय-अस्तको प्राप्त नहीं हो सकती—उसमें उत्तराकारके स्वीकाररूप उत्पाद और पूर्वाकारके परिहाररूप व्यय नहीं बन सकता। और न उसमें क्रिया-कारककी ही योजना बन सकती है—वह न तो चलने-ठहरने जीर्ण होने आदि किसी भी क्रियारूप परिणमन कर सकती है और न कर्ता-कर्मादिरूपसे किसीका कोई कारक ही बन सकती है—उसे सदा सर्वथा अटल अपरिवर्तनीय एकरूप रहना होगा, जो असंभव है। (इसी तरह) जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता। (यदि यह कहा जाय कि विद्यमान दीपकका—दीप-प्रकाशका—तो बुझनेपर अभाव हो जाता है, फिर यह कैसे कहा जाय कि सतका नाश नहीं होता ?' इसका उत्तर यह है कि) दीपक भी बुझनेपर सर्वथा नाशको प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस समय अन्धकाररूप पुद्गल-पर्यायको धारण किये हुए अपना

अस्तित्व रखता है—प्रकाश और अन्धकार दोनों पुद्गलकी पर्याय हैं, एक पर्यायके अभावमें दूसरी पर्यायकी स्थिति बनी रहती है, वस्तुका सर्वथा अभाव नहीं होता।'

विधिर्निषेधश्च कथञ्चिदिष्टौ
विवक्षया मुख्य-गुण-व्यवस्था।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं
मति-प्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ! ॥५॥ (२५)

'(वास्तवमें) विधि और निषेध—अस्तित्व और नास्तित्व—**दोनों कथंचित् इष्ट हैं**—सर्वथा रूपमें मान्य नहीं। **विवक्षासे उनमें मुख्य-गौणकी व्यवस्था होती है**—उदाहरणके तौरपर द्रव्यदृष्टिमें जब नित्यत्व प्रधान होता है तो पर्यायदृष्टिका विषय अनित्यत्व गौण होजाता है और पर्यायदृष्टि-मूलक अनित्यत्व जब मुख्य होता है तब द्रव्यदृष्टिका विषय नित्यत्व गौण हो जाता है।

इस प्रकारसे हे सुमति जिन ! आपका यह तत्त्व-प्रणयन है। इस तत्त्व-प्रणयनके द्वारा आपकी स्तुति करनेवाले मुझ स्तोता (उपासक) **की मतिका उत्कर्ष होवे**—उसका पूर्ण विकास होवे।

भावार्थ—यहाँ स्वामी समन्तभद्रने सुमतिदेवको, उनके मति-प्रवेकको लक्ष्यमें रखकर, स्तवन करके यह भावना की है कि उस प्रकारके मति-प्रवेकका—ज्ञानोत्कर्षका—मेरे आत्मामें भी आविर्भाव होवे। सो ठीक ही है, जो जैसा बनना चाहता है वह तद्गुण-विशिष्टकी उपासना किया करता है, और उपासनामें यह शक्ति है कि वह भव्य-उपासकको तद्रूप बनाती है; जैसे तेलमें भीगी हुई बत्ती जब दीपककी उपासना करती है—तद्रूप होनेके लिये जब पूर्ण तन्मयताके साथ दीपकका आलिङ्गन करती

है—सो वह भिन्न होते हुए भी तद्रूप होजाती है—स्वयं वैसी ही दीप-शिखा बन जाती है* ।

६

श्रीपद्मप्रभ-जिन-स्तवन

पद्मप्रभः पद्म-पलाश-लेश्यः
पद्मालयाऽऽलिङ्गितचारुमूर्तिः ।
बभौ भवान् भव्य-पयोरुहाणां
पद्माकराणामिव पद्मबन्धुः ॥१॥

'पद्म-पत्रके समान द्रव्यलेश्याके—रक्तवर्णाभ-शरीरके—धारक (और इसलिये अन्वर्थसंज्ञक) हे पद्मप्रभ जिन ! आपकी (आत्मस्वरूप तथा शरीररूप) सुन्दरमूर्ति पद्मालया—लक्ष्मीसे आलिङ्गित रही है—आत्मस्वरूप मूर्तिको अनन्तज्ञानादि-लक्ष्मीने तथा शरीररूप मूर्तिको निःस्वेदत्वादि-लक्ष्मीने दृढ़ आलिंगन किया है, और इस तरह आपकी उभय प्रकारकी मूर्ति उभय प्रकारकी लक्ष्मीके (शोभाके) साथ तन्मयताको प्राप्त हुई है। और आप भव्यरूप कमलोंको विकसित करनेके लिये—

*इसी भावको श्रीपूज्यपाद आचार्यने अपने 'समाधितंत्र'की निम्न कारिकामें व्यक्त किया है

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥ ९७ ॥

उनका आत्मविकास करनेके लिये—उसी तरह भासमान हुए हैं जिस तरह कि पद्मबन्धु-सूर्य पद्माकरोंका—कमलसमूहोंका—विकास करता हुआ सुशोभित होता है।'

बभार पद्मां च सरस्वतीं च
भवान् पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः।
सरस्वतीमेव समग्र-शोभां
सर्वज्ञ-लक्ष्मी-ज्वलितां* विमुक्तः ॥२॥

'आपने प्रतिमुक्ति-लक्ष्मीकी प्राप्तिके पूर्व—अर्हन्त-अवस्थासे पहले—लक्ष्मी और सरस्वती दोनोंको धारण किया है—उस समय गृहस्थावस्थामें आप यथेच्छ धन-सम्पत्तिके स्वामी थे, आपके यहाँ लक्ष्मीके अटूट भण्डार भरे थे, साथ ही अवधि-ज्ञानादि-लक्ष्मीसे भी विभूषित थे और सरस्वती आपके कण्ठमें स्थित थी। बादको विमुक्त होनेपर—जीवन्मुक्त (अर्हन्त) अवस्थाको प्राप्त करनेपर—आपने उस पूर्ण शोभा-वाली सरस्वतीको—दिव्य वाणीको—ही धारण किया है जो सर्वज्ञ-लक्ष्मीसे प्रदीप्त थी—उस समय आपके पास दिव्यवाणीरूप सरस्वतीकी ही प्रधानता थी, जिसके द्वारा जगतके जीवोंको उनके कल्याणका मार्ग सुझाया गया है।'

शरीर-रश्मि-प्रसरः प्रभोस्ते
बालार्क-रश्मिच्छविराऽऽलिलेप।
नराऽमराऽऽकीर्ण-सभां प्रभा वा
शैलस्य† पद्माभमणेः स्वसानुम् ॥३॥

*'लक्ष्मीं ज्वलितां' इति पाठान्तरम्। †'प्रभावच्छैलस्य' इति पाठान्तराम्।

'हे प्रभो! प्रातःकालीन सूर्य-किरणोंकी छविके समान—रक्तवर्ण आभाको लिये हुए—आपके शरीरकी किरणोंके प्रसार (फैलाव) ने मनुष्यों तथा देवताओंसे भरी हुई समवसरण-सभाको इस तरह आलिप्त (व्याप्त) किया है जिस तरह कि पद्माभमणि-पर्वतकी प्रभा अपने पार्श्वभागको आलिप्त करती है।'

नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं
सहस्रपत्राऽम्बुज-गर्भचारैः।
पादाऽम्बुजैः पातित-मार-दर्पो
भूमौ प्रजानां विजहर्थ‡ भूत्यै ॥४॥

'(हे पद्मप्रभ जिन!) आपने कामदेवके दर्प (मद) को चूर चूर किया है और सहस्रदल-कमलोंके मध्यभागपर चलनेवाले अपने चरण-कमलोंके द्वारा नभस्थलको पल्लवोंसे व्याप्त-जैसा करते हुए, प्रजाकी विभूतिके लिये—उसमें हेयोपादेयके विवेकको जागृत करनेके लिये—भूतलपर विहार किया है।'

गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्य*
नाऽऽखंडलः स्तोतुमलं तवर्षेः।
प्रागेव मादृक्किमुताऽतिभक्ति-
र्मां बालमालापयतीदमित्थम् ॥५॥ (३०)

'हे ऋषिवर! आप अज हैं—पुनर्जन्मसे रहित हैं—, आपके

‡ मुद्रित प्रतियोंमें जो 'विजहर्ष' पाठ है वह अशुद्ध है और लेखकोंकी 'थ' को 'ष' पढ़ लेने जैसी भूलका परिणाम जान पड़ता है।

*'अजस्रं' इति पाठान्तरम्।

गुणसमुद्रके लवमात्रकी भी स्तुति करनेके लिये जब इन्द्र पहले ही समर्थ नहीं हुआ है, तो फिर अब मेरे जैसा असमर्थ प्राणी कैसे समर्थ हो सकता है ?—नहीं हो सकता। यह आपके प्रति मेरी अति भक्ति ही है जो मुझ बालकसे—स्तुति-विषयमें अनभिज्ञसे—इस प्रकारका यह स्तवन कराती है।'

७

श्री सुपार्श्व-जिन-स्तवन

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां
स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा।
तृषोऽनुषंगान्न च तापशान्ति-
रितीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्वः ॥१॥

'यह जो आत्यन्तिक स्वास्थ्य है—विभाव-परिणतिसे रहित अपने अनन्तज्ञानादिमय-स्वात्म-स्वरूपमें अविनश्वरी स्थिति है—वही पुरुषों-का—जीवात्माओंका—स्वार्थ है—निजी प्रयोजन है, क्षणभंगुर भोग—इन्द्रिय-विषय-सुखका अनुभव—स्वार्थ नहीं है; क्योंकि इन्द्रिय-विषय-सुखके सेवनसे उत्तरोत्तर तृष्णाकी—भोगाकांक्षाकी—वृद्धि होती है और उससे तापकी—शारीरिक तथा मानसिक दुःखकी—शान्ति नहीं होने पाती। यह स्वार्थ और अस्वार्थका स्वरूप शोभनपार्श्वों—सुन्दर शरीरांगों—के धारक (और इसलिये अन्वर्थ-संज्ञक) भगवान् सुपार्श्व ने बतलाया है।'

अङ्गमं जङ्गम-नेय-यन्त्रं
यथा तथा जीव-धृतं शरीरम् ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च
स्नेहो वृथाऽत्रेति हितं त्वमाख्यः ॥२॥

'जिस प्रकार अजंगम (जड) यंत्र स्वयं अपने कार्यमें प्रवृत्त न होकर जंगम पुरुषके द्वारा चलाया जाता है उसी प्रकार जीवके द्वारा धारण किया हुआ यह शरीर अजंगम है—बुद्धिपूर्वक परिस्पन्द-व्यापारसे रहित है—और चेतन-पुरुषके द्वारा स्वव्यापारमें प्रवृत्त किया जाता है। साथ ही, बीभत्सु है—घृणात्मक है—, पूति है—दुर्गन्धयुक्त है—, क्षयि है—नाशवान है—और तापक है—आत्माके दुःखोंका कारण है। इस प्रकारके शरीरमें स्नेह रखना—अति अनुराग बढ़ाना—वृथा है—उससे कुछ भी आत्मकल्याण नहीं सध सकता। यह हितकी बात है सुपार्श्व जिन ! आपने बतलाई है।'

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं
हेतु-द्वयाऽऽविष्कृत-कार्य-लिङ्गा ।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्त्तः
संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥३॥

'आपने यह भी ठीक कहा है कि हेतुद्वयके—अन्तरंग और बाह्य अर्थात् उपादान और निमित्त दोनों कारणोंके—अनिवार्य संयोग-द्वारा उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता (जो हितका समुचित एवं समर्थ उपदेश मिलनेपर भी किसीको हितमें प्रवृत्ति नहीं होने देती) अलंघ्यशक्ति है—किसी तरह भी टाली नहीं

टलती। और इस भवितव्यताकी अपेक्षा न रखनेवाला अहंकारसे पीड़ित हुआ संसारी प्राणी (यन्त्र-मन्त्र-तन्त्रादि) अनेक सहकारी कारणोंको मिलाकर भी सुखादिक कार्योंके सम्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता।'

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो
नित्यं शिवं वाञ्छति नाऽस्य लाभः।
तथाऽपि बालो भय-काम-वश्यो
वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः ॥४॥

'आपने यह भी बतलाया है कि—यह संसारी प्राणी मृत्युसे डरता है परन्तु (अलंघ्यशक्ति-भवितव्यता-वश) उस मृत्युसे छुटकारा नहीं, नित्य ही कल्याण अथवा निर्वाण चाहता है परन्तु (भावीकी उसी अलंघ्यशक्ति-वश) उसका लाभ नहीं होता। फिर भी यह मूढ प्राणी भय और इच्छाके वशीभूत हुआ स्वयं ही वृथा तप्तायमान होता है। लेकिन डरने तथा इच्छा करने मात्रसे कुछ भी नहीं बनता, उलटा दुःख-सन्ताप उठाना पड़ता है।'

सर्वस्य तत्त्वस्य भवान् प्रमाता
मातेव बालस्य हिताऽनुशास्ता।
गुणाऽवलोकस्य जनस्य नेता
मयाऽपि भक्त्या परिणूयतेऽद्य* ॥५॥ (३५)

'(हे सुपार्श्व जिन!) आप सम्पूर्ण तत्त्व-समूहके—जीवादि-विश्व-तत्त्वोंके—प्रमाता हैं—संशयादि-रहित ज्ञाता हैं, माता जिस

* 'परिणूयसे' यह उपलब्ध प्रतियोंका पाठ 'भवान्' शब्दकी मौजूदगी-में कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता।

प्रकार बालकको हितकी—उसके भलेकी—शिक्षा देती है उसी प्रकार आप हेयोपादेयके ज्ञानसे रहित बालक-तुल्य जनसमूहको हितका—निःश्रेयस (मोक्ष) तथा उसके कारण सम्यग्दर्शनादिका—उपदेश देनेवाले हैं, और जो गुणावलोकी जन हैं—गुणोंकी तलाशमें रहने-वाला भव्यजीव हैं—उसके आप नेता हैं—बाधक कारणोंको हटा-कर आत्मीय अनन्तदर्शनादि गुणोंको प्राप्त कर लेनेके कारण उसे उन गुणोंकी प्राप्तिका मार्ग दिखानेवाले हैं। इसीसे मैं भी इस समय भक्ति-पूर्वक आपकी स्तुतिमें प्रवृत्त हुआ हूँ—मेरे भी आप नेता हैं, मुझे भी आपके सत्-शासनके प्रतापसे आत्मीय-गुणोंकी प्राप्तिका मार्ग सूझ पड़ा है।'

८

श्रीचन्द्रप्रभ-जिन-स्तवन

चन्द्रप्रभं चन्द्र-मरीचि-गौरं
चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम्।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं
जिनं जित-स्वान्त-कषाय-बन्धम् ॥१॥

'मैं उन श्रीचन्द्रप्रभ-जिनकी वन्दना करता हूँ, जो चन्द्र-किरण-सम-गौरवर्णसे युक्त जगतमें द्वितीय चन्द्रमाकी समान दीप्तिमान् (और इसलिये 'चन्द्रप्रभ' इस सार्थक संज्ञाके धारक) हुए हैं,

जिन्होंने अपने अन्तःकरणके कषाय-बन्धनको जीता है—सम्पूर्ण क्रोधादिकषायोंका नाशकर अकषायपद एवं जिनपद प्राप्त किया है—और (इसीलिये) जो ऋद्धिधारी मुनियोंके—गणधरादिकोंके—स्वामी तथा महात्माओंके द्वारा वन्दनीय हुए हैं।'

यस्याङ्ग-लक्ष्मी-परिवेश-भिन्नं
तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम् ।
ननाश बाह्यं बहु मानसं च
ध्यान-प्रदीपाऽतिशयेन भिन्नम् ॥२॥

'जिनके शरीरके दिव्य प्रभामण्डलसे बाह्य अन्धकार और ध्यान-प्रदीपके अतिशयसे—परम शुक्लध्यानके तेज-द्वारा—प्रचुर मानस अन्धकार—ज्ञानावरणादि-कर्मजन्य आत्माका समस्त अज्ञानान्धकार—उसी प्रकार नाशको प्राप्त हुआ जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे (लोकमें फैला हुआ) अन्धकार भिन्न-विदीर्ण होकर नष्ट हो जाता है।'

स्व-पक्ष-सौस्थित्य-मदाऽवलिप्ता
वाक्सिंह-नादैर्विमदा बभूवुः ।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा
गजा यथा केसरिणो* निनादैः ॥३॥

'जिनके प्रवचनरूप-सिंहनादोंको सुनकर अपने मत-पक्षकी सुस्थितिका घमण्ड रखनेवाले—उसे ही निर्बाध एवं अकाट्य समझकर मदोन्मत्त हुए—प्रवादिजन (परवादी) उसी प्रकारसे निर्मद हुए

* 'केशरिणो' इति पाठान्तरम् ।

हैं जिस प्रकार कि मदझरते हुए मस्त हाथी केसरी-सिंहकी गर्जनाओंको सुनकर निर्मद हो जाते हैं।'

य: सर्व-लोके परमेष्ठितायाः
पदं बभूवाऽद्भुत-कर्मतेजाः ।
अनन्त-धामाऽक्षर-विश्वचक्षुः
समन्तदुःख-क्षय-शासनश्च ॥ ४ ॥

'जो अद्भुत कर्मतेज थे—अपने योगबलसे जिन्होंने पर्वत-समान कठोर कर्म-पटलोंका छेदनकर सदाके लिए अपने आत्मासे उनका सम्बन्ध विच्छेद किया था अथवा शुक्लध्यानाग्निके द्वारा उन्हें भस्मीभूत किया था—, (ऐसा करके) जिन्होंने अनन्ततेजरूप अविनश्वर विश्वचक्षुको प्राप्त किया था—केवलज्ञान-केवलदर्शनके द्वारा जो विश्व-तत्त्वोंके ज्ञाता-दृष्टा थे—और जो सब ओरसे दुःखोंके पूर्ण क्षयरूप मोक्षके शास्ता (उपदेष्टा) थे—जगत्को जिन्होंने मोक्षमार्गका यथार्थ उपदेश दिया था—; और इस तरह (इन्हीं गुणोंके कारण) जो सम्पूर्ण लोकमें—त्रिभुवनमें—परमेष्ठिताके—परम आप्तताके—पद-को प्राप्त हुए थे।'

स चन्द्रमा भव्य-कुमुद्वतीनां
विपन्न-दोषाऽभ्र-कलङ्क-लेपः ।
व्याकोश-वाङ्-न्याय-मयूख-मालः
पूयात्पवित्रो भगवान्मनो मे ॥५॥ (४०)

'वे दोषा—रात्रि, अभ्र—मेघ और कलंक—मृगछालादिके लेपसे रहित अथवा रागादिक दोषरूप अभ्र-कलंकके आवरणसे

वर्जित और सुस्पष्ट वचनोंके प्रणयनरूप—स्याद्वादन्यायरूप—किरणमालासे युक्त, भव्य-कुमुदनियोंके लिए (अपूर्व) चन्द्रमा, ऐसे पवित्र भगवान् श्रीचन्द्रप्रभ-जिन मेरे मनको पवित्र करें—उनके वन्दन, कीर्तन, पूजन, भजन, स्मरण और अनुसरणरूप सम्यक् आराधनसे मेरा मन पवित्र होवे।'

९
श्रीसुविधि-जिन-स्तवन

एकान्तदृष्टि-प्रतिषेधि तत्त्वं
प्रमाण-सिद्धं तदतत्स्वभावम् ।
त्वया प्रणीतं सुविधे ! स्वधाम्ना
नैतत्समालीढ-पदं त्वदन्यैः ॥ १ ॥

'(शोभन-विधि-विधानके प्रतिपादन-द्वारा अन्वर्थ संज्ञाके धारक) हे सुविधि (पुष्पदन्त) जिन ! आपने अपने ज्ञान-तेजसे उस प्रमाण-सिद्ध तत्त्वका प्रणयन किया है जो सत्-असत् आदिरूप विवक्षिताऽविवक्षित स्वभावको लिये हुए है और एकान्तदृष्टिका प्रतिषेधक है—अनेकान्तात्मक होनेसे किसीकी भी इस एकान्त-मान्यताको स्वीकार नहीं करता कि वस्तुतत्त्व सर्वथा (स्वरूप और पररूप दोनोंसे ही) सत् (विधि) आदि रूप है। यह समालीढ पद—सम्यक् अनुभूत तत्त्व-का प्रतिपादक 'तदतत्स्वभाव' जैसा पद—आपसे भिन्न मत रखनेवाले दूसरे मतप्रवर्तकोंके द्वारा प्रणीत नहीं हुआ है।'

तदेव च स्यान्न तदेव च स्यात्
तथाप्रतीतेस्तव तत्कथञ्चित् ।
नाऽत्यन्तमन्यत्वमनन्यता च
विधेर्निषेधस्य च शून्य-दोषात् ॥ २ ॥

'(हे सुमति जिन!) आपका वह तत्त्व कथंचित् तद्रूप (सद्रूप) है और कथंचित् तद्रूप नहीं (असद्रूप) है; क्योंकि (स्वरूप-पररूपकी अपेक्षा—उसके द्वारा) वैसी ही सत्-असत्‌रूपकी प्रतीति होती है। स्वरूपादि-चतुष्टयरूप विधि और पररूपादि-चतुष्टयरूप निषेधके परस्परमें अत्यन्त (सर्वथा) भिन्नता तथा अभिन्नता नहीं है; क्योंकि सर्वथा भिन्नता या अभिन्नता माननेपर शून्य-दोष आता है—अविनाभाव-सम्बन्धके कारण विधि और निषेध दोनोंमेंसे किसीका भी तब अस्तित्व बन नहीं सकता, संकर दोषके भी आ उपस्थित होनेसे पदार्थोंकी कोई व्यवस्था नहीं रहती, और इसलिए वस्तुतत्त्वके लोपका प्रसङ्ग आ जाता है।'

नित्यं तदेवेदमिति प्रतीते-
र्न नित्यमन्य-प्रतिपत्ति-सिद्धेः ।
न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्ग-
निमित्त-नैमित्तिक-योगतस्ते ॥ ३ ॥

'यह वही है, इस प्रकारकी प्रतीति होनेसे वस्तुतत्त्व नित्य है और यह वह नहीं—अन्य है, इस प्रकारकी प्रतीतिकी सिद्धिसे वस्तुतत्त्व नित्य नहीं—अनित्य है। वस्तुतत्त्वका नित्य और अनित्य दोनोंरूप होना तुम्हारे मतमें विरुद्ध नहीं है; क्योंकि वह बहिरङ्ग

निमित्त—सहकारी कारण, अन्तरङ्ग निमित्त—उपादान कारण, और नैमित्तक—निमित्तोंसे उत्पन्न होनेवाले कार्यके— सम्बन्धको लिये हुए है—द्रव्यस्वरूप अन्तरङ्ग कारणके सम्बन्धकी अपेक्षा नित्य है और क्षेत्रादिरूप बाह्य कारण तथा परिणाम-पर्यायरूप कार्यकी अपेक्षा अनित्य है।'

अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं
वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या ।
आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो
गुणाऽनपेक्षे नियमेऽपवादः ॥ ४ ॥

'**पदका वाच्य—शब्दका अभिधेय—प्रकृतिसे—स्वभावसे—एक और अनेक दोनोंरूप है**—सामान्य और विशेषमें अथवा द्रव्य और पर्यायमें अभेद-विवक्षाके होनेपर एकरूप है और भेद-विवक्षाके होनेपर अनेकरूप है—'**वृक्षाः' इस पदज्ञानकी तरह**। अर्थात् जिस प्रकार 'वृक्षाः' यह एक व्याकरण-सिद्ध बहुवचनान्त पद है, इससे जहाँ वृक्षत्व-सामान्यका बोध होता है वहाँ वृक्ष-विशेषोंका भी बोध होता है। वृक्षत्व-वृक्षपना अर्थात् वृक्षजाति(वृक्षसामान्य)की अपेक्षा इसका वाच्य एक है और वृक्षविशेषोंकी—आम, अनार, शीशम, जामुन आदिकी अपेक्षा इसका वाच्य अनेक हैं; क्योंकि कोई भी वृक्ष हो उसमें सामान्य और विशेष दोनों धर्म रहते हैं, उनमेंसे जिस समय जिस धर्मकी विवक्षा होती है उस समय वह धर्म मुख्य होता है और दूसरा (अविवक्षित) गौण; परन्तु जो धर्म गौण होता है वह उस विवक्षाके समय कहीं चला नहीं जाता—उसी वृक्ष-वस्तुमें रहता है, कालान्तरमें वह भी मुख्य हो सकता है। जैसे 'आम्राः' कहने पर जब 'आम्रत्व' धर्म मुख्य होकर विवक्षित होता है तब 'वृक्षत्व' नामका सामान्यधर्म उससे अलग नहीं हो जाता—वह भी उसीमें रहता है। और जब

'आम्राः' पदमें आम्रत्व—सामान्यरूपसे विवक्षित होता है तब आम्रके विशेष देशी, कलमी, लंगड़ा, माल्दा, फ़ज़ली आदि धर्म गौण (अविवक्षित) हो जाते हैं और उसी आम्रपदमें रहते हैं। यही बात द्रव्य और पर्यायकी विवक्षा-अविवक्षाकी होती है। एक ही वृक्ष द्रव्य-सामान्यकी अपेक्षा एकरूप है तो वही अंकुरादि पर्यायोंकी अपेक्षा अनेक रूप है। दोनोंमें जिस समय जो विवक्षित होता है वह मुख्य और दूसरा गौण कहलाता है। इस तरह प्रत्येक पदका वाच्य एक और अनेक दोनों ही होते हैं।

(यदि पद-शब्दका वाच्य एक और अनेक दोनों हों तो 'अस्ति' कहने-पर 'नास्तित्व' के भी बोधका प्रसंग आनेसे दूसरे पद 'नास्ति' का प्रयोग निरर्थक ठहरेगा, अथवा स्वरूपकी तरह पररूपसे भी अस्तित्व कहना होगा। इसी तरह 'नास्ति' कहनेपर 'अस्तित्व' के भी बोधका प्रसंग आएगा, दूसरे 'अस्ति' पदका प्रयोग निरर्थक ठहरेगा अथवा पररूपकी तरह स्वरूपसे भी नास्तित्व कहना होगा। इस प्रकारकी शंकाका समाधान यह है—) अनेकान्तात्मक वस्तुके अस्तित्वादि किसी एक धर्मका प्रतिपादन करनेपर उस समय गौणभूत नास्तित्वादि दूसरे धर्मके प्रतिपादन-में जिसकी आकांक्षा रहती है ऐसे आकांक्षी—सापेक्षवादी अथवा स्याद्वादीका 'स्यात्' यह निपात—'स्यात्' शब्दका साथमें प्रयोग—गौणकी अपेक्षा न रखने वाले नियममें—सर्वथा एकान्त मतमें—निश्चित रूपसे बाधक होता है—उस सर्वथाके नियमको चरितार्थ नहीं होने देता जो स्वरूपकी तरह पररूपसे भी अस्तित्वका और पररूपकी तरह स्वरूपसे भी नास्तित्वका विधान करता है (और इस लिये यहाँ उक्त प्रकारकी शंकाको कोई स्थान नहीं रहता)।

गुण-प्रधानार्थमिदं हि वाक्यं
जिनस्य ते तद्द्विषतामपथ्यम्।

ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणां
ममाऽपि साधोस्तव पादपद्मम् ॥ ५ ॥ (४५)

'हे सुविधि-जिन! आपका यह 'स्यात्' पदरूपसे प्रतीयमान वाक्य मुख्य और गौणके आशयको लिये हुए है—विवक्षित और अविवक्षित दोनों ही धर्म इसके वाच्य हैं—अभिधेय हैं। आपसे—आपके अनेकान्त-मतसे—द्वेष रखने वाले सर्वथा एकान्त-वादियोंके लिये यह वाक्य अपथ्यरूपसे अनिष्ट है—उनकी सैद्धान्तिक प्रकृतिके विरुद्ध है; क्योंकि दोनों धर्मोंका एकान्त स्वीकार करनेसे उनके यहाँ विरोध आता है। चूँकि आपने ऐसे सातिशय तत्त्वका प्रणयन किया है इसलिये हे साधो! आपके चरण कमल जगदीश्वरों—इन्द्र-चक्रवर्त्यादिकों—के द्वारा वन्दनीय हैं, और मेरे भी द्वारा वन्दनीय हैं।'

१०

श्रीशीतल-जिन-स्तवन

—:०:※:०:—

न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो
न गाङ्गमम्भो न च हारयष्टयः।
यथा मुनेस्तेऽनघ! वाक्य-रश्मयः†
शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम् ॥१॥

'हे अनघ!—निरवद्य-निर्दोष श्रीशीतल-जिन!—आप प्रत्यक्ष-

† 'ऽनघ-वाक्य-रश्मयः' इति पाठान्तरम्।

ज्ञानी-मुनिकी प्रशम-जलसे भरी हुई वाक्य-रश्मियाँ—यथावत् अर्थस्वरूपकी प्रकाशक वचन-किरणावलियाँ—जिस प्रकारसे—संसार-तापको मिटाने रूपमें—विद्वानोंके लिये—हेयोपादेय-तत्त्वका विवेक रखनेवालोंके वास्ते—शीतल हैं—शान्तिप्रद हैं—उस प्रकार न तो चन्दन तथा चन्द्रमाकी किरणें शीतल हैं, न गंगाका जल शीतल है और न मोतियोंके हारकी लड़ियाँ ही शीतल हैं—कोई भी इनमें से भव-आताप-जन्य दुःखको मिटानेमें समर्थ नहीं है।'

सुखाऽभिलाषाऽनल-दाह-मूर्च्छितं
मनो निजं ज्ञानमयाऽमृताऽम्बुभिः।
व्यदिध्यपस्त्वं विष-दाह-मोहितं
यथा भिषग्मन्त्र-गुणैः स्व-विग्रहम् ॥२॥

'जिस प्रकार वैद्य विष-दाहसे मूर्च्छित हुए अपने शरीरको विषापहार मन्त्रके गुणोंसे—उसकी अमोघशक्तियोंसे—निर्विष एवं मूर्च्छा-रहित कर देता है उसी प्रकार (हे शीतल जिन!) आपने सांसारिक सुखोंकी अभिलाषा-रूप अग्निके दाहसे—चतुर्गति-संचरणकी दुःखसंतापसे—मूर्च्छित हुए—हेयोपादेयके विवेकसे विमुख हुए—अपने मनको—आत्माको—ज्ञानमय अमृत-जलोंके सिंचनसे मूर्च्छा-रहित शान्त किया है—पूर्ण विवेकको जाग्रत करके उसे उत्तरोत्तर संतापप्रद सांसारिक सुखोंकी अभिलाषासे मुक्त किया है।'

स्व-जीविते काम-सुखे च तृष्णया
दिवा श्रमार्त्ता निशि शेरते प्रजाः।

त्वमार्य ! नक्तं-दिवमप्रमत्तवा-
नजागरेवाऽऽत्म-विशुद्ध-वर्त्मनि ॥ ३ ॥

'अपने जीनेकी तथा काम-सुखकी तृष्णाके वशीभूत हुए लौकिक जन दिनमें श्रमसे पीडित रहते हैं—सेवा-कृष्यादिजन्य क्लेश-खेदसे अभिभूत बने रहते हैं—और रातमें सो जाते हैं—अपने आत्माके उद्धारकी ओर उनका प्रायः कोई लक्ष्य ही नहीं होता। परन्तु हे आर्य-शीतल-जिन ! आप रात-दिन प्रमादरहित हुए आत्माकी विशुद्धिके मार्गमें जागते ही रहे हैं—आत्मा जिससे विशुद्ध होता है—मोहादि कर्मोंसे रहित हुआ स्वरूपमें स्थित एवं पूर्ण विकसित होता है—उस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्गके अनुष्ठानमें सदा सावधान रहे हैं।'

अपत्य-वित्तोत्तर-लोक-तृष्णया
तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान्पुनर्जन्म-जरा-जिहासया
त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ॥ ४ ॥

'कितने ही तपस्वीजन संतान, धन तथा उत्तरलोक (परलोक या उत्कृष्ट लोक) की तृष्णाके वशीभूत हुए—पुत्रादिकी प्राप्तिके लिए, धनकी प्राप्तिके लिए अथवा स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये—(अग्निहोत्रादिक यज्ञ-) कर्म करते हैं; (परन्तु हे शीतल-जिन !) आप समभावी हैं—सन्तान, धन तथा उत्तरलोककी तृष्णासे रहित हैं—आपने पुनर्जन्म और जराको दूर करनेकी इच्छासे मन-वचन-काय तीनोंकी प्रवृत्तिको रोका है—तीनोंकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको हटाकर उन्हें स्वात्मा-

धीन किया है और इस तरह आत्मविकासकी उच्च स्थितिपर पहुँचकर योग-निरोध-द्वारा न मनसे कोई कर्म होने दिया, न वचनसे और न शरीरसे। भावार्थ—मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिको योग कहते हैं। इस योगसे आत्मामें कर्मका आस्रव तथा बन्ध होता है, जो पुनर्जन्मादिरूप-संसारपरिभ्रमण-का हेतु है। अतः आपने तो इस योगरूप कर्मको रोककर अथवा स्वाधीन बनाकर संसार-परिभ्रमणसे छूटनेका यत्न किया है, जबकि दूसरे तपस्वियोंने सांसारिक इच्छाओंके वशीभूत होकर अग्निहोत्रादि कर्म करके संसार-परिभ्रमणका ही यत्न किया है। दोनोंकी इन प्रवृत्तियोंमें कितना बड़ा अन्तर है!

त्वमुत्तम-ज्योतिरजः क्व निर्वृतः
क्व ते परे बुद्धि-लवोद्धव-क्षताः।
ततः स्वनिःश्रेयस-भावनापरै-
र्बुध-प्रवेकैर्जिन! शीतलेड्यसे ॥ ५ ॥ (५०)

'हे शीतल जिन! कहाँ तो आप उत्तमज्योति—परमातिशयको प्राप्त केवलज्ञानके धनी—, अजन्मा—पुनर्जन्मसे रहित—और निर्वृत्त—सांसारिक इच्छाओंसे रहित सुखीभूत! और कहाँ वे दूसरे—प्रसिद्ध अन्य देवता अथवा तपस्वी—जो लेशमात्र ज्ञानके मदसे नाशको प्राप्त हुए हैं—सांसारिक विषयोंमें अत्यासक्त होकर दुःखोंमें पड़े हैं और आत्म-स्वरूपसे विमुख एवं पतित हुए हैं!! इसीलिये अपने कल्याणकी भावनामें तत्पर—उसे साधनेके लिए सम्यग्दर्शनादिकके अभ्यासमें पूर्ण सावधान—बुधश्रेष्ठों—गणधरादिक देवों—के द्वारा आप पूजे जाते हैं।'

११

श्रीश्रेयो-जिन-स्तवन

—+*****+—

श्रेयान् जिनः श्रेयसि वर्त्मनीमाः
श्रेयः प्रजाः शासदजेयवाक्यः।
भवांश्चकाशे भुवनत्रयेऽस्मि-
न्नेको यथा वीत-घनो विवस्वान् ॥ १ ॥

'हे अजेयवाक्य—अबाधित वचन—श्रेयो जिन!—सम्पूर्ण कषायों, इन्द्रियों अथवा कर्म शत्रुओंको जीतनेवाले श्रीश्रेयांस तीर्थंकर! आप इन श्रेयप्रजाजनोंको—भव्यजीवोंको—श्रेयोमार्गमें अनुशासित करते हुए—मोक्षमार्गपर लगाते हुए—विगत-घन-सूर्यके समान अकेले ही इस त्रिभुवनमें प्रकाशमान हुए हैं।—अर्थात् जिस प्रकार मेघके पटलोंसे रहित सूर्य अपनी अप्रतिहत किरणों-द्वारा अकेला ही अन्धकारसमूहका विघातक बनकर, दृष्टि-शक्तिसे सम्पन्न नेत्रोंवाली प्रजाको इष्ट स्थानकी प्राप्तिका निमित्तभूत सन्मार्ग दिखलाता हुआ, जगत्में शोभाको प्राप्त होता है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि घातिकर्म-चतुष्टयसे रहित आप अकेले ही, अज्ञानान्धकारके प्रसारको विनष्ट करनेमें समर्थ बनकर अपने अबाधित वचनों-द्वारा भव्य-जनोंको मोक्षमार्गका उपदेश देते हुए, इस त्रिलोकीमें शोभाको प्राप्त हुए हैं।'

विधिर्विषक्त-प्रतिषेधरूपः
प्रमाणमत्राऽन्यतरत्प्रधानम्।

गुणोऽपरो मुख्य-नियामहेतु-
र्नयः स दृष्टान्तसमर्थनस्ते ॥ २ ॥

'(हे श्रेयांस जिन!) आपके मतमें वह विधि—स्वरूपादि-चतुष्टयसे अस्तित्व—प्रमाण है (प्रमाणका विषय होनेसे) जो कथंचित् तादात्म्य सम्बन्धको लिये हुए प्रतिषेध रूप है—पररूपादिचतुष्टय-की अपेक्षा नास्तित्वरूप भी है—तथा इन विधि-प्रतिषेध दोनोंमेंसे कोई एक प्रधान (मुख्य) और दूसरा गौण होता है (वक्ताके अभि-प्रायानुसार न कि स्वरूपसे*)। और मुख्यके—प्रधानरूप विधि अथवा निषेधके—नियामका 'स्वरूपादिचतुष्टयसे ही विधि और पररूपादि-चतुष्टयसे ही निषेध' इस नियमका—जो हेतु है वह नय है (नयका विषय होनेसे) और वह नय दृष्टान्त-समर्थन होता है—दृष्टान्तसे समर्थित अथवा दृष्टान्तका समर्थक (उसके असाधारण स्वरूपका निरूपक) होता है।

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो
गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते ।
तथाऽरिमित्राऽनुभयादिशक्ति-
द्वयाऽवधेः कार्यकरं हि वस्तु ॥ ३ ॥

'(हे श्रेयांस जिन!) आपके मतमें जो विवक्षित होता है—कहनेके लिये इष्ट होता है—वह 'मुख्य (प्रधान)' कहलाता है, दूसरा जो अविवक्षित होता है—जिसका कहना इष्ट नहीं होता—वह 'गौण'

* स्वरूपसे प्रधान अथवा गौण माननेपर उसके सदाकाल तद्रूप बने रहनेका प्रसंग आएगा, और यह बात बनती नहीं; क्योंकि प्रत्यक्षादिके साथ इसका विरोध है।

कहलाता है, और जो अविवक्षित होता है वह निरात्मक (अभावरूप) नहीं होता—उसकी सत्ता अवश्य होती है। इस प्रकार मुख्य-गौण-की व्यवस्थासे एक ही वस्तु शत्रु, मित्र और अनुभयादि शक्तियों-को लिये रहती है—एक ही व्यक्ति एक का मित्र है (उपकार-करनेसे), दूसरेका शत्रु है (अपकार करनेसे), तीसरेका शत्रु-मित्र दोनो है (उपकार-अपकार करनेसे) और चौथेका न शत्रु है न मित्र (उसकी ओर उपेक्षा धारण करनेसे), और इस तरह उसमें शत्रु-मित्रादिके गुण युगवत् रहते हैं। वास्तवमें वस्तु दो अवधियों (मर्यादाओं) से कार्यकारी होती है—विधि-निषेधरूप, सामान्य-विशेषरूप अथवा द्रव्य-पर्यायरूप दो दो सापेक्ष धर्मोंका आश्रय लेकर ही अर्थक्रिया करनेमें प्रवृत्त होती है और अपने यथार्थ स्वरूपकी प्रतिष्ठापक बनती है।'

दृष्टान्त-सिद्धावुभयोर्विवादे
साध्यं प्रसिद्ध्येन्न तु तादृगस्ति।
यत्सर्वथैकान्त-नियामि दृष्टं
त्वदीय-दृष्टिर्विभवत्यशेषे ॥ ४ ॥

'वादी प्रतिवादी दोनोंके विवादमें दृष्टान्त (उदाहरण) की सिद्धि होनेपर साध्य प्रसिद्ध होता है—जिसे सिद्ध करना चाहते हैं उसकी भले प्रकार सिद्धि होजाती है—, परन्तु वैसी कोई दृष्टान्तभूत वस्तु है ही नहीं जो (उदाहरण बनकर) सर्वथा एकान्तकी नियामक दिखाई देती हो। क्योंकि आपकी अनेकान्त-दृष्टि सबमें—साध्य, साधन और दृष्टान्तादिमें—अपना प्रभाव डाले हुए है—वस्तुमात्र अने-कान्तात्मकत्वसे व्याप्त है, इसीसे सर्वथा एकान्तवादियोंके मतमें ऐसा कोई दृष्टान्त ही नहीं बन सकता जो उनके सर्वथा एकान्तका नियामक हो और इस लिए उनके सर्वथा नित्यात्वादिरूप साध्यकी सिद्धि नहीं बन सकती।'

एकान्त-दृष्टि-प्रतिषेध-सिद्धि-

न्यायेषुभिः*मोहरिपुं निरस्य ।

असि स्म कैवल्य-विभूति-सम्राट्

ततस्त्वमर्हन्नसि मे स्तवाऽर्हः ॥ ५ ॥ (५५)

'हे अर्हन्—श्रेयो जिन ! आप एकान्त दृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धि-रूप न्यायवाणोंसे—तत्त्वज्ञानके सम्यक् प्रहारोंसे—मोह-शत्रुका अथवा मोहकी प्रधानताको लिये हुए ज्ञानावरणादिरूप शत्रु-समूहका—घातिकर्म-चतुष्टयका—नाश करके कैवल्य-विभूतिके—केवलज्ञानके साथ साथ समवसरणादि विभूतिके—सम्राट् हुए हैं। इसीसे आप मेरी स्तुतिके योग्य हैं।—मैं भी एकान्तदृष्टिके प्रतिषेधकी सिद्धिका उपासक हूँ और उसे पूर्णतया सिद्ध करके मोह शत्रुका नाश कर देना चाहता हूँ तथा कैवल्यविभूतिका सम्राट् बनना चाहता हूँ, अतः आप मेरे लिए आदर्शरूपमें पूज्य हैं—स्तुत्य हैं।'



* 'सिद्धिन्यायेषुभि' सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंका पाठ ।

१२

श्रीवासुपूज्य-जिन-स्तवन

शिवासु पूज्योऽभ्युदय-क्रियासु
त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्र-पूज्यः।
मयाऽपि पूज्योऽल्प-धिया मुनीन्द्र!
दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः॥ १॥

'हे (वसुपूज्य-सुत) श्रीवासुपूज्य मुनीन्द्र! आप शिवस्वरूप अभ्युदयक्रियाओंमें पूज्य हैं—मङ्गलमय स्वर्गावतरणादि कल्याणक-क्रियाओंके अवसरपर पूजाको प्राप्त हुए हैं—, त्रिदशेन्द्रपूज्य हैं—देवेन्द्रोंके द्वारा पूजे गये हैं, पूजे जाते हैं—और मुझ अल्पबुद्धिके द्वारा भी पूज्य हैं—मैं भी स्तुत्यादिके रूपमें आपकी पूजा किया करता हूँ। (अल्प बुद्धिके द्वारा पूजा जाना कोई असंगत बात भी नहीं है, क्योंकि) दीप-शिखाके द्वारा क्या सूर्य पूजा नहीं जाता?—पूजा ही जाता है। लोग दीपक जलाकर सूर्यकी आरती उतारते हैं, दीप-शिखासे उसकी पूजा करते हैं।'

न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे
न निन्दया नाथ! विवान्त-वैरे।
तथाऽपि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः
पुनाति* चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥ २॥

* 'पुनातु' सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंका पाठ।

'**हे भगवन् ! पूजा–वन्दनासे आपका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आप वीतरागी हैं**—रागका अंश भी आपके आत्मामें विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसीकी पूजा-वन्दनासे आप प्रसन्न होते। (इसी तरह) **निन्दासे भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है**—कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उसपर आपको ज़रा भी क्षोभ नहीं आसकता; क्योंकि आपके आत्मासे वैरभाव—द्वेषांश—बिल्कुल निकल गया है—वह उसमें विद्यमान ही नहीं है—,जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्योंका उद्भव हो सकता। ऐसी हालतमें निन्दा और स्तुति दोनों ही आपके लिए समान हैं—उनसे आपका कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है। **फिर भी आपके पुण्य-गुणोंका स्मरण हमारे चित्तको पाप-मलोंसे पवित्र करता है।**—और इस लिये हम जो आपकी पूजा-वन्दनादि करते हैं वह आपके लिए नहीं—आपको प्रसन्न करके आपकी कृपा सम्पादन करना या उसके द्वारा आपको लाभ पहुँचाना, यह सब उसका ध्येय ही नहीं है। उसका ध्येय है आपके पुण्यगुणोंका स्मरण—भावपूर्वक अनुचिन्तन—,जो हमारे चित्तको—चिद्रूप आत्माको—पाप-मलोंसे छुड़ाकर निर्मल एवं पवित्र बनाता है, और इस तरह हम उसके द्वारा अपने आत्माके विकासकी साधना करते हैं। अतः वह आपकी पूजा-वन्दना हम अपने ही हितके लिये करते हैं।'

पूज्यं जिनं त्वाऽर्चयतो जनस्य
सावद्य-लेशो बहु-पुण्य-राशौ।
दोषाय नाऽलं कणिका विषस्य
न दूषिका शीत-शिवाऽम्बुराशौ ॥ ३ ॥

'**हे पूज्य जिन श्रीवासुपूज्य ! आपकी पूजा करते हुए प्राणी-**

के जो **सावद्यलेश होता है**—सरागपरिणति तथा आरम्भादिक-द्वारा लेशमात्र पापका उपार्जन होता है—**वह** (भावपूर्वक की हुई पूजासे उत्पन्न होने वाली) **बहुपुण्य-राशिमें दोषका कारण नहीं बनता**—प्रचुर-पुण्य-पुञ्जमें हतवीर्य हुआ वह पाप उस पुण्यको दूषित करने अथवा पाप-रूप परिणत करनेमें समर्थ नहीं होता। (सो ठीक ही है) **विषकी एक कणिका शीतल तथा कल्याणकारी जलसे भरे हुए समुद्रको दूषित नहीं करती**—उसे प्राणघातक विष-धर्मसे युक्त विषैला नहीं बनाती।

यद्वस्तु बाह्यं गुण-दोष-सूते-
र्निमित्तमभ्यन्तर-मूलहेतोः।
अध्यात्म-वृत्तस्य तदङ्गभूत-
मभ्यन्तरं केवलमप्यलं न ‡ ॥ ४ ॥

'जो बाह्य वस्तु गुण-दोषकी—पुण्य-पापादिरूप उपकार-अपकार-की—उत्पत्तिका निमित्त होती है वह अन्तरङ्गमें वर्तनेवाले गुण-दोषोंकी उत्पत्तिके अभ्यन्तर मूल हेतुकी शुभाऽशुभादि-परि-णाम-लक्षण उपादानकारणकी—अंगभूत—सहकारी कारणभूत—होती है (और इस कारण मूल कारण शुभाऽशुभादि-परिणामके अभावमें सहकारीकारणरूप कोई भी बाह्य वस्तु पुण्य-पापादिरूप गुण-दोषकी जनक नहीं)। बाह्य वस्तुकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल अभ्यन्तर कारण भी—अकेला जीवादि किसी द्रव्यका परिणाम भी—गुण-दोषकी उत्पत्तिमें समर्थ नहीं है।'

‡ 'ते' सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंका पाठ।

बाह्येतरोपाधि-समग्रतेयं
कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवाऽन्यथा मोक्ष-विधिश्च पुंसां
तेनाऽभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥५॥ (६०)

'कार्योंमें बाह्य और आभ्यन्तर—सहकारी और उपादान—दोनों कारणोंकी जो यह पूर्णता है वह आपके मतमें द्रव्यगत स्वभाव है—जीवादि-पदार्थगत अर्थ-क्रिया-कारित्वस्वरूप है। अन्यथा—इस समग्रता अर्थात् द्रव्यगत स्वभावके बिना अन्य प्रकारसे—पुरुषोंके मोक्षकी विधि भी नहीं बनती—घटादिकका विधान ही नहीं किन्तु मुक्तिका विधान भी नहीं बन सकता। इसीसे परमर्द्धि-सम्पन्न ऋषि-वासु पूज्य! आप बुधजनोंके अभिवन्द्य हैं—गणधरादि विबुधजनोंके द्वारा पूजा-वन्दना किये जानेके योग्य हैं।'

१३

श्रीविमल-जिन-स्तवन

य एव नित्य-क्षणिकादयो नया
मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः
परस्परेक्षाः स्व-परोपकारिणः ॥१॥

'जो ही नित्य-क्षणिकादिक नय परस्परमें अनपेक्ष (स्वतंत्र) होनेसे—एक दूसरेकी अपेक्षा न रखकर स्वतंत्रभावसे सर्वथा नित्य-क्षणिकादिरूप वस्तुतत्वका कथन करनेके कारण—(परमतोंमें) स्वपरप्रणाशी हैं—निज और पर दोनोंका नाश करनेवाले स्व-पर-वैरी हैं, और इसलिए दुर्नय हैं। वे ही नय, हे प्रत्यक्षज्ञानी विमल जिन! आपके मतमें परस्परेक्ष (परस्परतंत्र) होनेसे—एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेसे—स्व-पर-उपकारी हैं—अपना और परका दोनोंका भला करनेवाले—दोनोंका अस्तित्व बनाये रखनेवाले स्व-पर-मित्र हैं, और इसलिए तत्त्वरूप-सम्यक् नय हैं।'

यथैकशः कारकमर्थ-सिद्धये
समीक्ष्य शेषं स्व-सहाय-कारकम् ।
तथैव सामान्य-विशेष-मातृका
नयास्तवेष्टा गुण-मुख्य-कल्पतः ॥२॥

'जिस प्रकार एक एक कारक—उपादानकारण या निमित्तकारण अथवा कर्त्ता, कर्म आदि कारकोंमेंसे प्रत्येक—शेष—अन्यको अपना सहाय-कारूप कारक अपेक्षित करके अर्थकी सिद्धिके लिये समर्थ होता है, उसी प्रकार (हे विमलजिन!) आपके मतमें सामान्य और विशेषसे उत्पन्न होनेवाले अथवा सामान्य और विशेषको विषय करनेवाले (द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि रूप) जो नय हैं वे मुख्य और गौणकी कल्पनासे इष्ट (अभिप्रेत) हैं।—प्रयोजनके वश सामान्यकी मुख्यरूपसे कल्पना (विवक्षा) होनेपर विशेषकी गौणरूपसे और विशेषकी मुख्यरूपसे कल्पना होनेपर सामान्यकी गौणरूपसे कल्पना होती है, एक दूसरेकी अपेक्षाको कोई छोड़ता नहीं; और इस तरह सभी

नय सापेक्ष होकर अपने अर्थकी सिद्धिरूप विवक्षित अर्थके परिज्ञानमें समर्थ होते हैं।

परस्परेक्षाऽन्वय-भेद-लिङ्गतः
प्रसिद्ध-सामान्य-विशेषयोस्तव ।
समग्रताऽस्ति स्व-पराऽवभासकं
यथा प्रमाणं भुवि बुद्धि-लक्षणम् ॥३॥

'**परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये हुए जो अन्वय** (अभेद) **और भेद** (व्यतिरेक) **का ज्ञान होता है उससे प्रसिद्ध होनेवाले सामान्य और विशेषकी** (हे विमल जिन!) **आपके मतमें उसी तरह समग्रता** (पूर्णता) **है जिस तरह कि भूतलपर बुद्धि**(ज्ञान)-**लक्षण प्रमाण स्व-पर-प्रकाशक-रूपमें समग्र** (पूर्ण—सकलादेशी) **है**—अर्थात् जिस प्रकार सम्यग्ज्ञान-लक्षण प्रमाण लोकमें स्व-प्रकाशकत्व और पर-प्रकाशकत्वरूप दो धर्मोंसे युक्त हुआ अपने विषयमें पूर्ण होता है और उसके ये दोनों धर्म परस्परमें विरुद्ध न होकर सापेक्ष होते हैं—स्व-प्रकाशकत्वके बिना पर-प्रकाशकत्व और पर-प्रकाशकत्वके बिना स्व-प्रकाशकत्व बनता ही नहीं—उसी प्रकार एक वस्तुमें विशेषण-विशेष्य भावसे प्रवर्तमान सामान्य और विशेष ये दो धर्म भी परस्पर में विरोध नहीं रखते, किन्तु अविरोधरूपसे सापेक्ष होते हैं—सामान्यके बिना विशेष और विशेषके बिना सामान्य अपूर्ण है अथवा यों कहिये कि बनता ही नहीं—और इसलिये दोनोंके मेलसे ही वस्तुमें पूर्णता आती है।'

विशेष्य-वाच्यस्य विशेषणं वचो
यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत् ।

तयोश्च सामान्यमतिप्रसज्यते
विवक्षितात्स्यादिति तेऽन्यवर्जनम् ॥४॥

'वाच्यभूत विशेष्यका—सामान्य अथवा विशेषका—वह वचन जिससे विशेष्यको नियमित किया जाता है—विशेषणकी नियतरूपता-के साथ अवधारण किया जाता है—'विशेषण' कहलाता है और जिसे नियमित किया जाता है वह 'विशेष्य' है। विशेषण और विशेष्य दोनोंके सामान्यरूपताका जो अतिप्रसंग आता है वह (हे विमल जिन!) आपके मतमें नहीं बनता; क्योंकि विवक्षित विशेषण-विशेष्यसे अन्य अविवक्षित विशेषण-विशेष्यका 'स्यात्' शब्दसे वर्जन (परिहार) हो जाता है—'स्यात्' शब्दकी सर्वथा प्रतिष्ठा रहनेसे अविवक्षित विशेषण-विशेष्यका ग्रहण नहीं होता, और इसलिये अतिप्रसंग दोष नहीं आता।'

नयास्तव स्यात्पद-सत्य-लाञ्छिता
रसोपविद्धा इव लोह-धातवः ।
भवन्त्यभिप्रेत-गुणा यतस्ततो
भवन्तमार्याः प्रणताः* हितैषिणः ॥५॥ (६५)

'(हे विमल जिन!) आपके मतमें जो (नित्य-क्षणिकादि) नय हैं वे सब स्यात्पदरूपी सत्यसे चिह्नित हैं—कोई भी नय 'स्यात्' शब्दके आशय (कथंचित्‌के भाव) से शून्य नहीं है, भले ही 'स्यात्' शब्द साथमें लगा हुआ हो या न हो—और रसोपविद्ध लोह-धातुओं-के समान—पारेसे अनुविद्ध हुई लोहा-ताम्बा आदि धातुओंकी तरह—

* 'प्रणुता' इति पाठान्तरम् ।

अभिमत फलको फलते हैं—यथा स्थित वस्तुतत्त्वके प्ररूपणमें समर्थ होकर सन्मार्गपर ले जाते हैं। इसीसे अपना हित चाहनेवाले आर्यजनोंने आपको प्रणाम किया है—उत्तम पुरुष सदा ही आपके सामने नत-मस्तक हुए हैं।'

१४
श्रीअनन्तजित्-जिन-स्तवन

अनन्त-दोषाऽऽशय-विग्रहो ग्रहो
विषङ्गवान्मोह-मयश्चिरं हृदि ।
यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता
त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित् ॥ १ ॥

'जिसका शरीर अनन्त दोषोंका—राग-द्वेष-कामक्रोधादिक अगणित विकारोंका—आधारभूत है (और इसी लिये अनन्त-संसार-परिभ्रमणका कारण है) ऐसा मोहमयी ग्रह—पिशाच, जो चिरकालसे हृदयमें चिपटा हुआ था—आत्माके साथ सम्बद्ध होकर उसपर अपना आतङ्क जमाए हुए था—वह चूँकि तत्त्वश्रद्धामें प्रसन्नता धारण करनेवाले आपके द्वारा पराजित—निर्मूलित—किया गया है, इस लिये आप भगवान 'अनन्तजित' हुए हैं—आपकी 'अनन्तजित' यह संज्ञा सार्थक है।'

कषाय-नाम्नां द्विषतां प्रमाथिना-
मशेषयन्नाम भवानशेषवित् ।

विशोषणं मन्मथ-दुर्मदाऽऽमयं
समाधि-भैषज्य-गुणैर्व्यलीनयत्‡ ॥ २ ॥

'(हे भगवन्) आप 'कषाय' नामके पीडनशील शत्रुओंका (हृदयमें) नाम निःशेष करते हुए—उनका आत्मासे पूर्णतः सम्बन्ध विच्छेद करते हुए—अशेषवित्—सर्वज्ञ—हुए हैं। और आपने कामदेवके दुरभिमानरूप आतङ्कको, जो कि विशेषरूपसे शोषक—संतापक है, समाधिरूप—प्रशस्त ध्यानात्मक—औषधके गुणोंसे विलीन किया है—विनाशित किया है।'

परिश्रमाऽम्बुर्भय-वीचि-मालिनी
त्वया स्वतृष्णा-सरिदाऽऽर्य! शोषिता।
असङ्ग-घर्मार्क-गभस्ति-तेजसा
परं ततो निर्वृति-धाम तावकम् ॥ ३ ॥

'जिसमें परिश्रमरूप जल भरा है और भयरूप तरंगमालाएँ उठती हैं उस अपनी तृष्णा-नदीको हे आर्य—अनन्तजित! आपने अपरिग्रह-रूप ग्रीष्मकालीन सूर्यकी किरणोंके तेजसे सुखा डाला है, इसलिये आपका निर्वृति-तेज उत्कृष्ट है।'

(इसपरसे स्पष्ट है कि तृष्णाको जीतनेका अमोघ उपाय अपरिग्रह-व्रतका भलेप्रकार पालन है। परिग्रहके रहते तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ा करती है, जिससे उसका जीतना प्रायः नहीं बनता।)

सुहृत्त्वयि श्री-सुभगत्वमश्नुते
द्विषंस्त्वयि प्रत्ययवत् प्रलीयते।

‡ 'विलीनयत्' इति पाठान्तरम्।

भवानुदासीनतमस्तयोरपि
प्रभो ! परं चित्रमिदं तवेहितम् ॥ ४ ॥

'हे भगवन् ! जो आपमें अनुराग—भक्ति-भाव—रखता है वह श्रीविशिष्ट सौभाग्यको—ज्ञानादि-लक्ष्मीके आधिपत्य आदिको—प्राप्त करता है, और जो आपमें द्वेषभाव रखता है वह प्रत्ययकी तरह—व्याकरण-शास्त्रमें प्रसिद्ध 'क्विप्' प्रत्ययके समान अथवा क्षण-स्थायी इन्द्रियजन्य ज्ञानके समान—विलीन (नष्ट) होजाता है—नरकादिक दुर्गतियोंमें जा पड़ता है। परन्तु आप अनुरागी (मित्र) और द्वेषी (शत्रु) दोनोंमें अत्यन्त उदासीन रहते हैं—न किसीका नाश चाहते हैं और न किसीकी श्रीवृद्धि: फिर भी मित्र और शत्रु स्वयं ही उक्त फलको प्राप्त हो जाते हैं—, यह आपका ईहित—चरित्र—बड़ा ही विचित्र है—अद्भुत माहात्म्यको प्रकट करता अथवा गुप्त रहस्यका सूचक है।'

त्वमीदृशस्तादृश इत्ययं मम
प्रलाप-लेशोऽल्प-मतेर्महामुने !
अशेष-माहात्म्यमनीरयन्नपि
शिवाय संस्पर्श इवाऽमृताम्बुधेः ॥५॥ (७०)

'(हे भगवन् !) आप ऐसे हैं—वैसे हैं—आपके ये गुण हैं—वे गुण हैं—, इस प्रकार मुझ अल्पमतिका—यथावत गुणोंके परिज्ञानसे रहित स्तोताका—यह स्तुतिरूप थोड़ासा प्रलाप है। (तब क्या यह निष्फल होगा ? नहीं) अमृत-समुद्रके अशेष-माहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी जिस प्रकार उसका संस्पर्श कल्याण-कारक

होता है उसी प्रकार हे महामुने ! आपके अशेष-माहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी मेरा यह थोड़ासा प्रलाप आपके गुणोंके संस्पर्शरूप होनेसे कल्याणका ही हेतु है।

१५

श्रीधर्म-जिन-स्तवन

—*:*:*:*—

धर्म-तीर्थमनघं प्रवर्तयन्
धर्म इत्यनुमतः सतां भवान् ।
कर्म-कक्षमदहत्तपोऽग्निभिः
शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः ॥ १ ॥

'(हे धर्मजिन!) अनवद्य-धर्मतीर्थको—सम्यग्दर्शनादिरूप धर्म-तीर्थको अथवा सम्यग्दर्शनाद्यात्मक-धर्मके प्रतिपादक आगम-तीर्थको—(लोकमें) प्रवर्तित करते हुए आप सत्पुरुषों द्वारा 'धर्म' इस सार्थक संज्ञाको लिये हुए माने गये हैं। आपने (त्रिविध) तपरूप अग्नियोंसे कर्म-वनको जलाया है, (फलतः) शाश्वत—अविनश्वर-सुख प्राप्त किया है। (और इसलिये) आप शंकर हैं—कर्मवनको दहन कर अपनेको और धर्मतीर्थको प्रवर्तित कर सकल प्राणियोंको सुखके करनेवाले हैं।'

देव-मानव-निकाय-सत्तमै
रेजिषे परिवृतो वृतो बुधैः ।

तारका-परिवृतोऽतिपुष्कलो
व्योमनीव शश-लाञ्छनोऽमलः ॥ २ ॥

'जिस प्रकार निर्मल—घन-पटलादि-मलसे रहित—पूर्ण-चन्द्रमा आकाशमें ताराओंसे परिवेष्ठित हुआ शोभता है उसी प्रकार (हे धर्मजिन!) आप देव और मनुष्योंके उत्तम समूहोंसे परिवेष्ठित तथा गणधरादिबुधजनोंसे परिवारित (सेवित) हुए (समवसरण-सभामें) शोभाको प्राप्त हुए हैं।'

प्रातिहार्य-विभवैः परिष्कृतो
देहतोऽपि विरतो भवानभूत्।
मोक्षमार्गमशिषन्नरामरान्
नाऽपि शासन-फलैषणाऽऽतुरः ॥ ३ ॥

'प्रातिहार्यों और विभवोंसे—छत्र, चमर, सिंहासन, भामंडल, अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि, देवदुन्दुभि और दिव्यध्वनिरूप आठ प्रकारके चमत्कारों तथा समवसरणादि-विभूतियोंसे—विभूषित होते हुए भी आप उन्हींसे नहीं किन्तु देहसे भी विरक्त रहे हैं—आपने शरीरसे भी आपको ममत्व एवं रागभाव नहीं रहा। (फिर भी तीर्थंकर-प्रकृतिरूप पुण्यकर्मके उदयमें) आपने मनुष्यों तथा देवोंको मोक्षमार्ग सिखलाया है—मुक्तिकी प्राप्तिके लिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अमोघ उपाय बतलाया है। परन्तु आप शासन-फलकी एषणासे आतुर नहीं हुए—कभी आपने यह इच्छा नहीं की कि मेरे उपदेशका फल जनताकी भक्ति अथवा उसकी कार्यसिद्धि आदिके रूपमें शीघ्र प्रकट होवे। और यह सब परिणति आपकी वीतरागता, परिमुक्तता और उच्चताकी

द्योतक है। जो शासन-फलके लिये आतुर रहते हैं वे ऐश्वर्यशाली होते हुए भी क्षुद्र संसारी जीव होते हैं। इसीसे वे प्रायः दम्भके शिकार होते हैं और उनसे सच्चा शासन बन नहीं सकता।'

काय-वाक्य-मनसां प्रवृत्तयो
नाऽभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नाऽसमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो
धीर! तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥४॥

'आप प्रत्यक्षज्ञानी मुनिके मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियाँ प्रवृत्त करनेकी इच्छासे नहीं हुईं; (तब क्या असमीक्ष्यकारित्वके रूपमें हुईं?) यथावत् वस्तुस्वरूपको न जानकर असमीक्ष्यकारित्वके रूपमें भी वे नहीं हुईं। इस तरह हे धीर-धर्मजिन! आपका ईहित—चरित—अचिन्त्य है—उसमें वे सब प्रवृत्तियाँ बिना आपकी इच्छा और असमीक्ष्यकारिताके तीर्थंकर-नामकर्मोदय तथा भव्यजीवोंके अदृष्ट(भाग्य)-विशेषके वशसे होती हैं।'

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्
देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ! परमाऽसि देवता
श्रेयसे जिनवृष! प्रसीद नः ॥५॥ (७५)

'हे नाथ! चूंकि आप मानुषी प्रकृतिको—मानव स्वभावको—अतिक्रान्त कर गये हैं और देवताओंमें भी देवता हैं—पूज्य हैं—इस लिये आप परम-उत्कृष्ट देवता हैं—पूज्यतम हैं। अतः हे धर्मजिन! आप हमारे कल्याणके लिये प्रसन्न होवें, हम प्रसन्नता-

पूर्वक रसायन-सेवनकी तरह आपका आराधन करके संसार-रोग मिटाते हुए अपना पूर्ण स्वास्थ्य (मोक्ष) सिद्ध करनेमें समर्थ होवें।

भावार्थ—'श्रेयसे प्रसीद नः—आप हमारे कल्याणके लिये प्रसन्न होवें,' यह अलंकृत भाषामें भक्तकी प्रार्थना है, जिसका शब्दाशय यद्यपि इतना ही है कि आप हमपर प्रसन्न होवें और उस प्रसन्नताका फल हमें कल्याणके रूपमें प्राप्त होवे; परन्तु वीतराग जिनेन्द्रदेव किसीपर प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं हुआ करते—वे तो सदा ही आत्मस्वरूपमें मग्न और प्रसन्न रहते हैं, फिर उनसे ऐसी प्रार्थनाका कोई प्रयोजन नहीं। वास्तवमें यह अलंकृत-भाषामय प्रार्थना एक प्रकारकी भावना है और इसका फलितार्थ यह है कि हम वीतरागदेव श्रीधर्मजिनका प्रसन्न-हृदयसे आराधन करके उनके साथ तन्मयता प्राप्त करें और उस तन्मयताके फलस्वरूप अपना आत्म-कल्याण सिद्ध करनेमें उसी प्रकारसे समर्थ होवें जिस प्रकार कि रसायनके प्रसादसे—प्रसन्नतापूर्वक रसायनका सेवन करनेसे—रोगीजन आरोग्य-लाभ करनेमें समर्थ होते हैं।'

१६

श्रीशान्ति-जिन-स्तवन

विधाय रक्षां परतः प्रजानां
राजा चिरं योऽप्रतिम-प्रतापः।
व्यधात्पुरस्तात्स्वत एव शान्ति-
र्मुनिर्दया-मूर्तिरिवाऽघशान्तिम् ॥ १ ॥

'जो शान्ति-जिन परसे—शत्रुओंसे—प्रजाजनोंकी रक्षा करके चिरकाल तक अप्रतिम-प्रतापके—अनुपम पराक्रमके—धारक राजा हुए और फिर जिन्होंने स्वयं ही—बिना किसीके उपदेशके—मुनि होकर दयामूर्तिकी तरह प्रथम ही (हिंसादि) पापोंकी शान्ति की।'

चक्रेण यः शत्रु-भयङ्करेण
जित्वा नृपः सर्व-नरेन्द्र-चक्रम् ।
समाधि-चक्रेण पुनर्जिगाय
महोदयो दुर्जय-मोह-चक्रम् ॥ २ ॥

'जो (गृहस्थावस्थामें) शत्रुओंके लिए भय उपजानेवाले चक्र-से सर्व नरेन्द्रचक्रको—सम्पूर्ण राजाओंके समूहको—जीत कर चक्री नृप—चक्रवर्ती सम्राट्—हुए और बादको (मुनि-अवस्थामें) समाधि-चक्रसे—धर्मध्यान-शुक्लध्यानके प्रभावसे—दुर्जय मोहचक्रको—मोहनीय कर्मके मूलोत्तर—प्रकृति-प्रपंचको—जीतकर जो महान् उदयको—अपने पूर्ण विकासको—प्राप्त हुए हैं।'

राज-श्रिया राजसु राज-सिंहो
रराज यो राज-सुभोग-तन्त्रः ।
आर्हन्त्य-लक्ष्म्या पुनरात्म-तन्त्रो
देवाऽसुरोदार-सभे रराज ॥ ३ ॥

'जो राजेन्द्र, राजाओंके योग्य सुभोगोंके अधीन हुए अथवा उन्हें स्वाधीन (अधिकाधिक रूपमें प्राप्त) किए हुए, राज-लक्ष्मीसे राजाओंमें शोभाको प्राप्त हुए वे ही फिर (परम वीतराग अवस्थामें) आत्माधीन हुए—आत्माको कर्मबन्धनसे छुड़ाकर स्वाधीन किए हुए—

आर्हन्त्य-लक्ष्मीसे—अनन्तज्ञानादिरूप अन्तरङ्ग और अष्ट-महाप्रातिहार्यादिरूप बहिरङ्ग विभूतिसे—देवों तथा असुरों (अदेवों)—मनुष्यादिकोंकी महती (समवसरणवर्तिनी) सभामें शोभाको प्राप्त हुए हैं।'

यस्मिन्नभूद्राजनि राज-चक्रं
मुनौ दया-दीधिति-धर्म-चक्रम् ।
पूज्ये मुहुः प्राञ्जलि देव-चक्रं
ध्यानोन्मुखे ध्वंसि कृतान्त-चक्रम् ॥ ४ ॥

'जिनके राजा होनेपर राजाओंका समूह हाथ जोड़े खड़ा रहा, मुनि होने पर दयाकी किरणोंवाला धर्मचक्र प्राञ्जलि हुआ—आत्माधीन बना—, पूज्य होनेपर—धर्मतीर्थका प्रवर्तन करनेपर—देवोंका समूह पुनः पुनः हाथ जोड़े खड़ा रहा, और ध्यानके सन्मुख होनेपर—व्युपरतक्रियानिवृत्तिलक्षण-योगके चरम-समयमें—कृतान्तचक्र—कर्मोंका अवशिष्ट समूह—नाशको प्राप्त हुआ।'

स्वदोष-शान्त्या विहिताऽऽत्मशान्तिः
शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम् ।
भूयाद्भव-क्लेश-भयोपशान्त्यै
शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥ ५ ॥ (८०)

'जिन्होंने अपने दोषोंकी—अज्ञान तथा राग-द्वेष-काम-क्रोधादि-विकारोंकी—शान्ति करके—पूर्ण निवृत्ति करके—आत्मामें शान्ति स्थापित की है—पूर्ण सुखस्वरूपा स्वाभाविक स्थिति प्राप्त की है, और (इसलिये) जो शरणागतोंके लिये शान्तिके विधाता हैं वे भग-

वान् शान्तिजिन मेरे शरण्य हैं—शरणभूत हैं। अतः मेरे संसार-परिभ्रमणकी, क्लेशोंकी और भयोंकी उपशान्तिके लिये निमित्त-भूत होवें।'

भावार्थ—आत्माके शान्ति-सुखकी प्राप्ति अपने दोषोंको—राग-द्वेष-काम-क्रोधादि-विकारोंके—शान्तकर नेसे होती है, और जिस महान् आत्माने अपने दोषोंको शान्त करके आत्मामें शान्ति-सुखकी प्रतिष्ठा की है वही शरणागतोंके लिये शान्ति-सुखका विधाता होता है—उनमें शान्ति-सुख-का संचार करने अथवा उन्हें शान्ति-सुखरूप परिणत करनेमें सहायक होता है, और ऐसा करनेमें उसके लिए किसी इच्छा तथा प्रयत्नकी भी जरूरत नहीं पड़ती—वह स्वयं ही उस प्रकार हो जाता है जिस प्रकार कि अग्निके पास जानेसे गर्मीका और हिमालय या शीतप्रधान प्रदेशके पास पहुँचनेसे सर्दीका संचार अथवा तद्रूप परिणमन स्वयं हुआ करता है और उसमें उस अग्नि या हिममय पदार्थकी इच्छादिकका कोई कारण नहीं पड़ता। श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्रने अपने दोषोंको—रागादिविभावपरिणामों-को—पूर्णतया शान्त करके अपने आत्मामें पूर्ण शान्ति स्थापित की है और इसलिये वे शरणागत भव्यजीवोंमें शान्ति-सुखके विधाता हैं—बिना किसी इच्छा या हस्तादि-प्रयत्नके ही उनमें शान्ति-सुखका संचार करने अथवा उन्हें शान्ति-सुख-रूप परिणत करनेमें प्रबल सहायक हैं। इसीसे स्वामी समन्तभद्र, शान्तिजिनेन्द्रकी स्तुति करते हुए, कहते हैं—'मैं ऐसे शान्तिमय जिनभगवानकी शरणमें प्राप्त होता हूँ—उनकी शान्ति-पद्धतिको अपनाता हुआ उनका आराधन करता हूँ—, फलतः मेरे संसार-परिभ्रमणका अन्त और सांसारिक क्लेशों—दुःखों तथा भयोंकी समाप्ति होवे।'

१७

श्रीकुन्थु-जिन-स्तवन

—:०:*:०:—

कुन्थु-प्रभृत्यखिल-सत्त्व-दयैकतानः
कुन्थुर्जिनो ज्वर-जरा-मरणोपशान्त्यै ।
त्वं धर्म-चक्रमिह वर्तयसि स्म भूत्यै
भूत्वा पुरा क्षितिपतीश्वर-चक्रपाणिः ॥१॥

'कुन्थ्वादि सकल प्राणियोंपर दयाके अनन्य विस्तारको लिये हुए हे कुन्थुजिन ! आपने पहले (गृहस्थावस्थामें) राज्यविभूतिके निमित्त राजाओंके स्वामी चक्रवर्ती होकर बादको ज्वरादि रोग, जरा (बुढ़ापा) और मरणकी उपशान्तिरूप मुक्ति-विभूतिके लिये इस लोकमें धर्म-चक्रको प्रवर्तित किया है—अर्थात् आप चक्रवर्ती और तीर्थङ्कर दोनों महान पदोंको प्राप्त हुए हैं ।'

तृष्णाऽर्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा-
मिष्टेन्द्रियार्थ-विभवैः परिवृद्धिरेव ।
स्थित्यैव काय-परिताप-हरं निमित्त-
मित्यात्मवान् विषय-सौख्य-पराङ्मुखोऽभूत् ॥२॥

'तृष्णा (विषयाकांक्षा) रूप अग्नि ज्वालाएँ स्वभावसे ही संतापित करती हैं । इनकी शान्ति अभिलषित इन्द्रिय-विषयोंकी सम्पत्तिसे—प्रचुर परिमाणमें सम्प्राप्तिसे—नहीं होती, उल्टी वृद्धि ही

होती है; क्योंकि वस्तु-स्थिति ऐसी ही है—इन्द्रिय-विषयोंको जितना अधिक सेवन किया जाता है उतनी ही अधिक उनके और सेवनकी तृष्णा बढ़ती रहती है। सेवन किये हुए इन्द्रिय-विषय (मात्र कुछ समयके लिये) शरीरके सन्तापको मिटानेमें निमित्तमात्र हैं—तृष्णारूप अग्नि-ज्वालाओंको शान्त करनेमें समर्थ नहीं होते। यह सब जानकर हे आत्मवान्!—इन्द्रियविजेता भगवन्!—आप विषय-सौख्यसे पराङ्-मुख हुए हैं—आपने चक्रवर्तित्वकी सम्पूर्ण विभूतिको हेय समझते हुए उनसे मुख मोड़कर अपना पूर्ण आत्मविकास सिद्ध करनेके लिये स्वयं ही वैराग्य लिया है—जिनदीक्षा धारण की है।'

बाह्यं तपः परम-दुश्चरमाऽऽचरस्त्व-
माऽऽध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्।
ध्यानं निरस्य कलुष-द्वयमुत्तरस्मिन्†
ध्यान-द्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥३॥

'(वैराग्य लेकर) आपने आध्यात्मिक तपकी—आत्मध्यानकी—परिवृद्धिके लिये परमदुश्चर बाह्य तप—अनशनादिरूप घोर-दुर्द्धर तप-श्चरण—किया है। और (इस बाह्यतपश्चरणको करते हुए) आप आर्त-रौद्र-रूप दो कलुषित (खोटे) ध्यानोंका निराकरण करके उत्तर-वर्ती—धर्म्य और शुक्ल नामक—दो सातिशय (प्रशस्त) ध्यानोंमें प्रवृत्त हुए हैं।'

हुत्वा स्व-कर्म-कटुक-प्रकृतीश्चतस्रो
रत्नत्रयाऽतिशय-तेजसि जात-वीर्यः।

† 'उत्तरेस्मिन्' इति पाठान्तरम्।

बभ्राजिषे सकल-वेद-विधेर्विनेता
व्यभ्रे यथा वियति दीप्त-रुचिर्विवस्वान् ॥४॥

'(सातिशय ध्यान करते हुए हे कुन्थुजिन!) आप अपने कर्मोंकी चार कटुक प्रकृतियोंको—ज्ञानवरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामके चार घातिया कर्मोंको—रत्नत्रयको—सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको—सातिशय अग्निमें—परमशुक्लध्यानरूप-वह्निमें—भस्म करके जातवीर्य हुए हैं—शक्तिसम्पन्न बने हैं—और सकल-वेद-विधिके—सम्पूर्ण लोकाऽलोक—विषयक-ज्ञान-विधायक आगमके—प्रणेता होकर ऐसे शोभायमान हुए हैं जैसे कि घनपटल-विहीन आकाशमें दीप्त किरणोंको लिये हुए सूर्य शोभता है।'

यस्मान्मुनीद्र ! तव लोक-पितामहाद्या
विद्या-विभूति-कणिकामपि नाप्नुवन्ति ।
तस्माद्भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः
स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्व-हितैकतानाः ॥५॥(८८)

'हे मुनीन्द्र श्रीकुन्थुजिन! चूंकि लोकपितामहादिक—ब्रह्मा-विष्णु-महेश-कपिल-सुगतादिक—आपकी विद्या (केवलज्ञान) की और विभूतिको—समवसरणादि लक्ष्मीकी—एक कणिकाको भी प्राप्त नहीं हैं, इस लिये आत्महित-साधनकी धुनमें लगे हुए श्रेष्ठ सुधीजन—गणधरादिक—पुनर्जन्मसे रहित आप अद्वितीय स्तुत्य (स्तुति-पात्र) की स्तुति करते हैं।'

१८
श्रीअर-जिन-स्तवन

गुण-स्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्व-कथा स्तुतिः ।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥१॥

'विद्यमान गुणोंकी अल्पताको उल्लंघन करके जो उनके बहुत्वकी कथा की जाती है—उन्हें बढ़ा-चढ़ा कर कहा जाता है—उसे लोकमें 'स्तुति' कहते हैं। वह स्तुति (हे अर-जिन!) आपमें कैसे बन सकती है?—नहीं बन सकती। क्योंकि आपके गुण अनन्त होनेसे पूरे तौरपर कहे ही नहीं जा सकते—बढ़ा-चढ़ा कर कहनेकी तो फिर बात ही दूर है।'

तथाऽपि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामाऽपि कीर्तितम् ।
पुनाति पुण्य-कीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन ॥२॥

'(यद्यपि आपके गुणोंका कथन करना अशक्य है) फिर भी आप पुण्यकीर्ति* मुनीन्द्रका चूँकि नाम-कीर्तन भी—भक्तिपूर्वक नामका उच्चारण भी—हमें पवित्र करता है। इसलिये हम आपके गुणोंका कुछ-लेशमात्र कथन (यहाँ) करते हैं।'

* 'कीर्ति' शब्द वाणी, ख्याति और स्तुति नाना अर्थोंमें प्रयुक्त होता है और 'पुण्य' शब्द पवित्रता तथा प्रशस्तताका द्योतक है। अतः जिनकी वाणी पवित्र-प्रशस्त है, ख्याति पवित्र-प्रशस्त है और स्तुति पुण्योत्पादक—पवित्रतासम्पादक है उन्हें 'पुण्य-कीर्ति' कहते हैं।

लक्ष्मी-विभव-सर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्र-लाञ्छनम् ।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाऽभवत् ॥३॥

'लक्ष्मीकी विभूतिके सर्वस्वको लिये हुए जो चक्रलाञ्छन—चक्रवर्तित्वका—सार्वभौम साम्राज्य आपको सम्प्राप्त था, वह मुमुक्षु होनेपर—मोक्ष प्राप्तिकी इच्छाको चरितार्थ करनेके लिये उद्यत होनेपर—आपके लिये जीर्ण तृणके समान हो गया—आपने उसे निःसार समझ कर त्याग दिया।'

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान् ।
द्व्यक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूव बहु-विस्मयः ॥४॥

'आपके रूप-सौन्दर्यको देखकर दो नेत्रोंवाला इन्द्र तृप्तिको प्राप्त न हुआ—उसे आपको अधिकाधिकरूपसे देखनेकी लालसा बनी ही रही—(और इसलिये विक्रिया-द्वारा) वह सहस्र-नेत्र बन कर देखने लगा, और बहुत ही आश्चर्यको प्राप्त हुआ।'

मोहरूपो रिपुः पापः कषाय-भट-साधनः ।
दृष्टि-संवि*दुपेक्षाऽस्त्रैस्त्वया धीर ! पराजितः ॥५॥

'कषाय-भटोंको—क्रोध-मान-माया-लोभादिककी—सैन्यसे युक्त जो मोहरूप—मोहनीय कर्मरूप—पापी शत्रु है—आत्माके गुणोंका प्रधानरूपसे घात करनेवाला है—उसे हे धीर अर-जिन! आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और उपेक्षा—परमौदासीन्य-लक्षण सम्यक्-चारित्र—रूप अस्त्र-शस्त्रोंसे पराजित कर दिया है।'

* 'संप' सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंका पाठ।

कन्दर्पस्योद्धरो दर्पस्त्रैलोक्य-विजयार्जितः ।
ह्रेपयामास तं धीरे त्वयि प्रतिहतोदयः ॥ ६ ॥

'तीन लोककी विजयसे उत्पन्न हुए कामदेवके उत्कट दर्पको—महान् अहंकारको—आपने लज्जित किया है। आप धीरवीर—अक्षुभितचित्त—मुनीन्द्रके सामने कामदेव हतोदय (प्रभावहीन) हो गया—उसकी एक भी कला न चली।'

आयत्यां च तदात्वे च दुःख-योनिर्दुरुत्तरा ।
तृष्णा-नदी त्वयोत्तीर्णा विद्या-नावा विविक्तया ॥७॥

'आपने उस तृष्णा-नदीको निर्दोष ज्ञान-नौकासे पार किया है जो इस लोक तथा परलोकमें दुःखोंकी योनि है—कष्ट-परम्पराको उत्पन्न करनेवाली है—और जिसका पार करना आसान नहीं है—बड़े कष्टसे जिसे तिरा (पार किया) जाता है।'

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्म-ज्वर-सखः सदा ।
त्वामन्तकाऽन्तकं प्राप्य व्यावृत्तः काम-कारतः ॥८॥

'पुनर्जन्म और ज्वरादिक रोगोंका मित्र अन्तक—यम सदा मनुष्योंको रुलानेवाला है; परन्तु आप अन्तकका अन्त करनेवाले हैं, आपको प्राप्त होकर अन्तक—काल अपनी इच्छानुसार प्रवृत्तिसे उपरत हुआ है—उसे आपके प्रति अपना स्वेच्छ व्यवहार बन्द करना पड़ा है।'

भूषा-वेषाऽऽयुध-त्यागि विद्या-दम-दया-परम् ।
रूपमेव तवाऽऽचष्टे धीर ! दोष-विनिग्रहम् ॥९॥

'हे धीर अर-जिन ! आभूषणों, वेषों तथा आयुधोंका त्यागी

और ज्ञान, कषायेन्द्रिय-जय तथा दयाकी उत्कृष्टताको लिये हुए आपका रूप ही इस बातको बतलाता है कि आपने दोषोंका पूर्ण-तया निग्रह (विजय) किया है—क्योंकि राग तथा अहंकारका निग्रह किये विना कटक-केयूरादि आभूषणों तथा जटा-मुकुट-रक्ताम्बरादिरूप वेषोंके त्यागनेमें प्रवृत्ति नहीं होती, द्वेष तथा भयका निग्रह किये विना शस्त्रास्त्रोंका त्याग नहीं बनता, अज्ञानका नाश किये विना ज्ञानमें उत्कृष्टता नहीं आती, मोहका जय किये विना कषायों और इन्द्रियोंका पूरा दमन नहीं बन आता और हिंसावृत्ति, द्वेष तथा लौकिक स्वार्थको छोड़े विना दयामें तत्परता नहीं आती।'

समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा।
तमो बाह्यमपाकीर्णमध्यात्मं ध्यान-तेजसा ॥१०॥

'सब ओरसे निकलनेवाले आपके शरीर-तेजोंके बृहत परि-मंडलसे—विशाल प्रभामंडलसे—आपका बाह्य अन्धकार दूर हुआ और ध्यान-तेजसे आध्यात्मिक—ज्ञानावरणादिरूप भीतरी—अन्ध-कार नाशको प्राप्त हुआ है।'

सर्वज्ञ-ज्योतिषोद्भूतस्तावको महिमोदयः।
कं न कुर्यात्प्रणम्रं ते सत्त्वं नाथ ! सचेतनम् ॥११॥

'हे नाथ अरजिन ! सर्वज्ञकी ज्योतिसे—ज्ञानोत्कर्षसे—उत्पन्न हुआ आपके माहात्म्यका उदय किस सचेतन प्राणीको—गुण-दोषके विवेकमें चतुर जीवात्माको—प्रणम्रशील नहीं बनाता ? सभीको आपके आगे नत-मस्तक करता है।'

तव वागमृतं श्रीमत्सर्व-भाषा-स्वभावकम्।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि ॥१२॥

'सर्व-भाषाओंमें परिणत होनेके स्वभावको लिये हुए और समवसरण-सभामें व्याप्त हुआ आपका श्रीसम्पन्न—सकलार्थके यथार्थ प्रतिपादनकी शक्तिसे युक्त—वचनामृत प्राणियोंको उसी प्रकार तृप्त-संतुष्ट करता है जिस प्रकार कि अमृत-पान।

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥१३॥

'(हे अरजिन!) आपकी अनेकान्तदृष्टि (अनेकान्तात्मक-मत-प्रवृत्ति) सती—सच्ची है, विपरीत इसके जो एकान्त मत है वह शून्यरूप असत् है*। अतः जो कथन अनेकान्त-दृष्टिसे रहित—एकान्त-दृष्टिको लिये हुए—है वह सब मिथ्या है; क्योंकि वह अपना ही—सत्-असत् आदिरूप एकान्तमतका ही—घातक है—अनेकान्तके बिना एकान्तकी स्वरूप-प्रतिष्ठा बन ही नहीं सकती।'

ये पर-स्खलितोन्निद्राः स्व-दोषेभ-निमीलनाः।
तपस्विनस्ते किं कुर्युरपात्रं त्वन्मत-श्रियः ॥१४॥

'जो (एकान्तवादी जन) परमें—अनेकान्तमें—विरोधादि दोष देखनेके लिए उन्निद्र—जागृत—रहते हैं और अपनेमें—सत् आदि एकान्तमें—दोषोंके प्रति गज-निमीलनका व्यवहार करते हैं—उन्हें देखते हुए भी न देखनेका ढोंग बनाते हैं—वे बेचारे क्या करें?—उनसे स्वपक्षका साधन और परपक्षका दूषण बन नहीं सकता। (क्योंकि) वे आपके अनेकान्त-मतकी (यथार्थ वस्तुस्वरूप-विवेचकत्व-लक्षणा)

* यह सब कैसे है, इस विषयको विशेषरूपसे जाननेके लिये इसी स्वयम्भू-स्तोत्र-गत सुमति-जिन और सुविधि-जिनके स्तवनोंको अनुवाद-सहित देखना चाहिए।

श्रीके पात्र नहीं हैं—सर्वथा एकान्तपक्षको अपनानेसे वे उसके योग्य ही नहीं रहे।'

ते तं स्वघातिनं दोषं शमीकर्तुमनीश्वराः।
त्वद्द्विषः स्वहनो बालास्तत्त्वाऽवक्तव्यतां श्रिताः ॥१५॥

'वे एकान्तवादी जन, जो उस (पूर्वोक्त) स्वघाति-दोषको दूर करनेके लिये असमर्थ हैं, आपसे—आपके अनेकान्तवादसे—द्वेष रखते हैं, आत्मघाती हैं—अपने सिद्धान्तका घात स्वयं अपने हाथों करते हैं—और यथावद्वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ—बालक हैं,(इसीसे)उन्होंने तत्त्व की अवक्तव्यताको आश्रित किया है—वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है, ऐसा प्रतिपादन किया है।'

सदेक-नित्य-वक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति† पुष्यन्ति स्यादितीह ते ॥१६॥

'सत्, एक, नित्य, वक्तव्य और इनके विपक्षरूप असत्, अनेक, अनित्य, अवक्तव्य ये जो नय-पक्ष हैं वे यहाँ सर्वथा-रूपमें तो अति दूषित हैं और स्यात्-रूपमें पुष्टिको प्राप्त होते हैं।—अर्थात् सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा एक (अद्वैत), सर्वथा अनेक सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य, सर्वथा वक्तव्य और सर्वथा अवक्तव्य रूपमें जो सत-पक्ष हैं, वे सब दूषित (मिथ्या) नय हैं—स्वेष्टमें बाधक हैं। और स्यात् सत्, स्यात् असत्, स्यात् एक, स्यात् अनेक, स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् वक्तव्य और स्यात् अवक्तव्यरूपसे जो नय-पक्ष हैं, वे सब पुष्ट (समर्थ) नय हैं—स्वेष्टार्थको निर्बाधरूपसे प्रतिपादन करनेमें समर्थ हैं।'

† 'प्रदुष्यन्ते पुष्यन्ते' इति पाठान्तरम्।

सर्वथा-नियम-त्यागी यथादृष्टमपेक्षकः ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥१७॥

'सर्वथारूपसे—सत ही है, असत ही है, नित्य ही है, अनित्य ही है इत्यादि रूपसे—प्रतिपादनके नियमका त्यागी, और यथादृष्टको—जिस प्रकार सत्-असत् आदि रूपसे वस्तु-प्रमाण-प्रतिपन्न है उसको—अपेक्षामें रखनेवाला जो 'स्यात' शब्द है वह आपके—अनेकान्तवादी जिनदेवके—न्यायमें है, (त्वन्मत-बाह्य) दूसरोंके—एकान्तवादियोंके—न्यायमें नहीं है, जो कि अपने वैरी आप हैं* ।'

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नय-साधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥१८॥

'आपके मतमें अनेकान्त भी—सम्यक् एकान्त ही नहीं किन्तु अनेकान्त भी—प्रमाण और नयसाधनों (दृष्टियों) को लिये हुए अनेकान्तस्वरूप—कथंचित अनेकान्त और कथंचित् एकान्तस्वरूप—है। प्रमाणकी दृष्टिसे अनेकान्तरूप सिद्ध होता है ('सकलादेशः प्रमाणाधीनः' इस वाक्यके आशयानुसार) और विवक्षित नयकी अपेक्षासे अनेकान्तमें एकान्तरूप—प्रतिनियतधर्मरूप—सिद्ध होता है ('विकलादेशः नयाधीनः' इस वाक्यके आशयानुसार)।'

---

* एकान्तवादी परके वैरी होनेके साथ साथ अपने वैरी आप कैसे हैं, इस बातको विशेषरूपसे जाननेके लिये 'समन्त-भद्र-विचार-माला' का प्रथम लेख 'स्व-पर-वैरी कौन ?' देखना चाहिये, जो कि 'अनेकान्त' के चतुर्थ वर्ष की प्रथम किरण (नववर्षाङ्क) में प्रकाशित हुआ है।

इति निरुपम-युक्त-शासनः*
प्रिय-हित-योग-गुणाऽनुशासनः।
अर-जिन! दम-तीर्थ-नायक-
स्त्वमिव सतां प्रतिबोधनाय कः? ॥१९॥

'इस प्रकार हे अरजिन! आप निरुपम-युक्त-शासन हैं—उपमा-रहित और प्रमाण-प्रसिद्ध शासन—मतके प्रवर्तक हैं—, प्रिय तथा हितकारी योगोंके—मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियों अथवा समाधिके—और गुणोंके—सम्यग्दर्शनादिकके—अनुशासक हैं, साथ ही दम-तीर्थके नायक हैं—कषाय तथा इन्द्रियोंकी जयके विधायक प्रवचन-तीर्थके स्वामी हैं। आपके समान फिर साधुजनोंको प्रतिबोध देनेके लिये और कौन समर्थ है?—कोई भी समर्थ नहीं है। आप ही समर्थ हैं।'

मति-गुण-विभवानुरूपत-
स्त्वयि-वरदाऽऽगम-दृष्टिरूपतः।
गुण-कृशमपि किञ्चनोदितं
मम भवताद् दुरितासनोदितम् ॥२०॥ (१०५)

'हे वरद—अरजिन! मैंने अपनी मति-शक्तिकी सम्पत्तिके अनुरूप—जैसी मुझे बुद्धि-शक्ति प्राप्त हुई है उसके अनुसार—तथा आगमकी दृष्टिके अनुसार—आगममें कथित गुणोंके आधारपर—आपके विषयमें कुछ थोड़ेसे गुणोंका कीर्तन किया है, यह गुण-कीर्तन मेरे पाप—कर्मोंके विनाशमें समर्थ होवे—इसके प्रसादसे मेरी मोहनीयादि पाप-कर्मप्रकृतियोंका क्षय होवे।'

---

* 'युक्ति-शासनः' इति पाठान्तरम्।

१९

श्रीमल्लि-जिन-स्तवन

यस्य महर्षेः सकल-पदार्थ-
प्रत्यवबोधः समजनि साक्षात् ।
साऽमर-मर्त्यं जगदपि सर्वं
प्राञ्जलि भूत्वा प्रणिपतति स्म ॥१॥

'जिन महर्षिके सकल-पदार्थोंका प्रत्यवबोध—जीवादि-सम्पूर्ण पदार्थोंको सब ओरसे अशेष-विशेषको लिये हुए जाननेवाला परिज्ञान (केवलज्ञान)—साक्षात् (इन्द्रिय-श्रुतादि-निरपेक्ष प्रत्यक्ष) रूपसे उत्पन्न हुआ, (और इसलिये) जिन्हें देवों तथा मर्त्यजनोंके साथ सारे ही जगतने हाथ जोड़कर नमस्कार किया; (उन मल्लिजिनकी मैंने शरण ली है ।)'

यस्य च मूर्तिः कनकमयीव
स्व-स्फुरदाभा-कृत-परिवेषा ।
वागपि तत्त्वं कथयितुकामा
स्यात्पद-पूर्वा रमयति साधून् ॥२॥

'जिनकी मूर्ति—शरीराकृति—सुवर्णनिर्मित-जैसी है और स्फुरायमान आभासे परिमण्डल किये हुए है—सम्पूर्ण शरीरको व्याप्त करनेवाला भामण्डल बनाये हुए है—, वाणी भी जिनकी 'स्यात्'

पदपूर्वक यथावत् वस्तुतत्त्वका कथन करनेवाली है और साधु-जनोंको रमाती है—आकर्षित करके अपनेमें अनुरक्त करती है; (उन मल्लि-जिनकी मैंने शरण ली है।)'

यस्य पुरस्ताद्विगलित-माना
न प्रतितीर्थ्या भुवि विवदन्ते ।
भूरपि रम्या प्रतिपदमासी-
ज्जात-विकोशाम्बुज-मृदु-हासा ॥ ३ ॥

'जिनके सामने गलितमान हुए प्रतितीर्थिजन—एकान्तवाद-मतानुयायी—पृथ्वीपर विवाद नहीं करते थे और पृथ्वी भी (जिनके विहारके समय) पद-पदपर विकसित कमलोंसे मृदु-हास्यको लिये हुए रमणीक हुई थी; (उन मल्लि-जिनकी मैंने शरण ली है।)'

यस्य समन्ताज्जिन-शिशिरांशोः
शिष्यक-साधु-ग्रह-विभवोऽभूत् ।
तीर्थमपि स्वं जनन-समुद्र-
त्रासित-सत्त्वोत्तरण-पथोऽग्रम् ॥ ४ ॥

'(अपनी शीतल-वचन-किरणोंके प्रभावसे संसार-तापको शान्त करने-वाले) जिन जिनेन्द्र-चन्द्रका विभव (ऐश्वर्य) शिष्य-साधु-ग्रहोंके रूपमें हुआ था—प्रचुर परिमाणमें शिष्य-साधुओंके समूहसे जो व्याप्त थे—, जिनका आत्मीय तीर्थ—शासन—भी संसार-समुद्रसे भय-भीत प्राणियोंको पार उतरनेके लिये प्रधान मार्ग बना है; (उन मल्लि-जिनेन्द्रकी मैंने शरण ली है।)'

यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्नि-
ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत् ।
तं जिन-सिंहं कृतकरणीयं
मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि ॥५॥ (११०)

'और जिनकी शुक्लध्यानरूप परम तपोऽग्निने अनन्त दुरित-को—अन्तको प्राप्त न होनेवाले (परम्परासे चले आनेवाले) कर्माष्टकको—भस्म किया था,

उन (उक्त गुणविशिष्ट) कृतकृत्य और अशल्य—माया-मिथ्या-निदान-शल्यवर्जित—मल्लिजिनेन्द्रकी मैं शरण में प्राप्त हुआ हूँ—इस शरण-प्राप्ति-द्वारा उस अनन्त दुरितरूप कर्मशत्रुसे मेरी रक्षा होवे।'

२०

श्रीमुनिसुव्रत-जिन-स्तवन

-*****-

अधिगत-मुनि-सुव्रत-स्थिति-
र्मुनि-वृषभो मुनिसुव्रतोऽनघः ।
मुनि-परिषदि निर्बभौ भवा-
नुडु-परिषत्परिवीत-सोमवत् ॥१॥

'मुनियोंके सुव्रतोंकी—मूलोत्तर-गुणोंकी—स्थितिको अधिगत करनेवाले—उसे भले प्रकार जाननेवाले ही नहीं किन्तु स्वतः के आच-

रण-द्वारा अधिकृत करनेवाले—(और इसलिए) 'मुनि-सुव्रत' इस अन्वर्थ संज्ञाके धारक हे निष्पाप (घातिकर्म-चतुष्टयरूप पापसे रहित) मुनिराज ! आप मुनियोंकी परिषद्में—गणधरादि ज्ञानियोंकी सभा (समवसरण) में—उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार कि नक्षत्रोंके समूहसे परिवेष्टित चन्द्रमा शोभाको प्राप्त होता है।'

परिणत-शिखि-कण्ठ-रागया
कृत-मद-निग्रह-विग्रहाऽऽभया।
तव जिन ! तपसः प्रसूतया
ग्रह-परिवेष-रुचेव शोभितम् ॥२॥

'मद-मदन अथवा अहंकारके निग्रहकारक—निरोधप्रचक—शरीरके धारक हे मुनिसुव्रत जिन ! आपका शरीर तपसे उत्पन्न हुई तरुण-मोरके कण्ठवर्ण-जैसी आभासे उसी प्रकार शोभित हुआ है जिस प्रकार कि ग्रहपरिवेषकी—चन्द्रमाके परिमण्डलकी—दीप्ति शोभती है।'

शशि-रुचि-शुचि-शुक्ल-लोहितं
सुरभितरं विरजो निजं वपुः।
तव शिवमतिविस्मयं यते !
यदपि च वाङ्मनसीयमीहितम् ॥३॥

'हे यतिराज ! आपका अपना शरीर चन्द्रमाकी दीप्तिके समान-निर्मल शुक्ल रुधिरसे युक्त, अतिसुगन्धित, रजरहित, शिवस्वरूप (स्व-पर-कल्याणमय) तथा अति आश्चर्यको लिए हुए

रहा है और आपके वचन तथा मनकी जो प्रवृत्ति हुई है वह भी शिव-स्वरूप तथा अति आश्चर्यको लिए हुए हुई है।'

स्थिति-जनन-निरोध-लक्षणं
चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम् ।
इति जिन! सकलज्ञ-लाञ्छनं
वचनमिदं वदतांवरस्य ते ॥४॥

'हे मुनिसुव्रत जिन! आप वदतांवर हैं—प्रवक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं—आपका यह वचन कि 'चर और अचर (जंगम-स्थावर) जगत् प्रतिक्षण स्थिति-जनन-निरोधलक्षणको लिए हुए है'—प्रत्येक समयमें ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय (विनाश) स्वरूप है—सर्वज्ञताका चिन्ह है—संसारभरके जड-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल और मूर्त-अमूर्त सभी पदार्थोंमें प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको एक साथ लक्षित करना सर्वज्ञताके विना नहीं बन सकता, और इसलिए आपके इस परम अनुभूत वचनमें स्पष्ट सूचित होता है कि आप सर्वज्ञ हैं।'

दुरित-मल-कलङ्कमष्टकं
निरुपम-योग-बलेन निर्दहन् ।
अभवदभव-सौख्यवान् भवान्
भवतु ममापि भवोपशान्तये ॥ ५ ॥ (११५)

'(हे मुनिसुव्रत जिन!) आप अनुपम योगबलसे—परमशुक्लध्यानाग्निके तेजसे—आठों पाप-मलरूप कलंकोंको—जीवात्माके वास्तविक स्वरूपको आच्छादन करनेवाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु नामके आठों कर्ममलोंको—

भस्मीभूत करते हुए, संसारमें न पाये जाने वाले सौख्यको—परम अतीन्द्रिय मोक्ष-सौख्यको—प्राप्त हुए हैं। (अतः) आप मेरी—मुझ स्तोताकी—भी संसार-शान्तिके लिए निमित्तभूत होवें—आपके आदर्शको सामने रखकर मैं भी योग-बलसे आठों कर्म-मलोंको दग्ध करके अतीन्द्रिय परमसौख्यको प्राप्त करूँ, ऐसी मेरी भावना अथवा आत्मप्रार्थना है।'

२१

श्रीनमि-जिन-स्तवन

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशल-परिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायस-पथे
स्तुयान्न त्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमि-जिनम् ॥१॥

'स्तुतिके समय स्तुत्य चाहे मौजूद हो या न हो और फलकी प्राप्ति भी चाहे सीधी उसके द्वारा होती हो या न होती हो, परन्तु साधु स्तोताकी—विवेकके साथ भक्तिभाव-पूर्वक स्तुति करनेवालेकी—स्तुति कुशल-परिणामकी—पुण्यप्रसाधक परिणामोंकी—कारण जरूर है; और वह कुशल-परिणाम अथवा तज्जन्य पुण्यविशेष श्रेयफलका दाता है। जब जगतमें इस तरह स्वाधीनतासे श्रेयोमार्ग सुलभ है—स्वयं प्रस्तुत की गई स्तुतिके-द्वारा प्राप्त है—तब, हे

सर्वदा अभिपूज्य नमि-जिन ! ऐसा कौन विद्वान्—प्रेक्षापूर्वकारी अथवा विवेकी जन—है जो आपकी स्तुति न करे ? करे ही करे।'

त्वया धीमन् ! ब्रह्म-प्रणिधि-मनसा जन्म-निगलं
समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्ष-पदवी ।
त्वयि ज्ञान-ज्योतिर्विभव-किरणैर्भाति भगव-
न्नभूवन् खद्योता इव शुचिरवावन्यमतयः ॥२॥

'हे बुद्धि-ऋद्धिसम्पन्न भगवन् ! आपने परमात्म(शुद्धात्म)-स्वरूपमें चित्तको एकाग्र करके पुनर्जन्मके बन्धनको उसके मूल-कारण-सहित नष्ट किया है, अतएव आप विद्वज्जनोंके लिए मोक्ष-मार्ग अथवा मोक्षस्थान हैं—आपको प्राप्त होकर विवेकी जन अपना मोक्ष-साधन करनेमें समर्थ होते हैं। आपमें विभव (समर्थ) किरणोंके साथ केवलज्ञानज्योतिके प्रकाशित होनेपर अन्यमती—एकान्त-वादी—जन उसी प्रकार हतप्रभ हुए हैं जिस प्रकार कि निर्मल सूर्यके सामने खद्योत (जुगनू) होते हैं।'

विधेयं वार्यं चाऽनुभयमुभयं मिश्रमपि तद्-
विशेषैः प्रत्येकं नियम-विषयैश्चापरिमितैः ।
सदाऽन्योन्यापेक्षैः सकल-भुवन-ज्येष्ठ-गुरुणा
त्वया गीतं तत्त्वं बहु-नय-विवक्षेतर-वशात् ॥३॥

'हे सम्पूर्ण जगतके महान गुरु श्रीनमिजिन ! आपने वस्तु-तत्त्वको बहुत नयोंकी विवक्षा-अविवक्षाके वशसे विधेय, वार्य (प्रतिषेध्य) उभय, अनुभय तथा मिश्रभंग—विधेयाऽनुभय, प्रतिषेध्या-ऽनुभय और उभयाऽनुभय—(ऐसे सप्तभंग) रूप निर्दिष्ट किया है। साथ

ही अपरिमित विशेषों (धर्मों) का कथन किया है, जिनमेंसे एक-एक विशेष सदा एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये रहता है, और सप्तभंगके नियमको अपना विषय किये रहता है—कोई भी विशेष अथवा धर्म सर्वथा एक दूसरेकी अपेक्षासे रहित कभी नहीं होता और न सप्तभंगके नियमसे बहिर्भूत ही होता है।'

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सा तत्राऽऽरम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राऽऽश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परम-करुणो ग्रन्थमुभयं
भवानेवाऽत्याक्षीन्न च विकृत-वेषोपधि-रतः ॥४॥

'प्राणियोंकी अहिंसा जगतमें परमब्रह्म—अत्युच्चकोटिकी आत्मचर्या—जानी गई है और वह अहिंसा उस आश्रमविधिमें नहीं बनती जिसआश्रमविधिमें अणुमात्र—थोड़ा सा—भी आरम्भ होता है। अतः उस अहिंसा-परमब्रह्मकी सिद्धिके लिये परम-करुणाभावसे सम्पन्न आपने ही बाह्याभ्यन्तररूपसे उभय-प्रकारके परिग्रहको छोड़ा है—बाह्यमें वस्त्रालंकारादिक उपधियोंका और अन्तरंगमें रागादिक भावोंका त्याग किया है—और फलतः परमब्रह्मकी सिद्धिको प्राप्त किया है। किन्तु जो विकृतवेष और उपधिमें रत हैं—यथाजातलिङ्गके विरोधी जटा-मुकुट-धारण तथा भस्मोद्धूलनादि-रूप वेष और वस्त्र, आभूषण, अक्षमाला तथा मृगचर्मादिरूप उपधियोंमें आसक्त हैं—उन्होंने उस बाह्याभ्यन्तर परिग्रहको नहीं छोड़ा है।—और इस लिए ऐसोंसे उस परमब्रह्मकी सिद्धि भी नहीं बन सकती है।'

वपुर्भूषा-वेष-व्यवधि-रहितं शान्त-करणं
यतस्ते संचष्टे स्मर-शर-विषाऽऽतङ्क-विजयम् ।

विना भीमैः शस्त्रैरदय-हृदयाऽमर्ष-विलयं
ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्ति-निलयः ॥५॥(१२०)

'(हे नमि-जिन !) आभूषण, वेष तथा व्यवधान (वस्त्र-प्रावरणादि) से रहित और इन्द्रियोंकी शान्तताको—अपने अपने विषयोंमें वाञ्छाकी निवृत्तिको—लिये हुए आपका नग्न दिगम्बर शरीर चूँकि यह बतलाता है कि आपने कामदेवके बाणोंके विषसे होनेवाली चित्तकी पीडा अथवा अप्रतीकार व्याधिको जीता है और विना भयंकर शास्त्रोंके ही निर्दयहृदय क्रोधका विनाश किया है, इस लिये आप निर्मोह हैं और शान्ति-सुखके स्थान हैं। अतः हमारे शरण्य हैं—हम भी निर्मोह होना और शान्ति-सुखको प्राप्त करना चाहते हैं, इसीसे हमने आपकी शरण ली है।'

२२

श्रीअरिष्टनेमि-जिन-स्तवन

भगवानृषिः परम-योग-
दहन-हुत-कल्मषेन्धनः ।
ज्ञान-विपुल-किरणैः सकलं
प्रतिबुध्य बुद्ध-कमलायतेक्षणः ॥१॥
हरिवंश-केतुरनवद्य-
विनय-दम-तीर्थ-नायकः ।

शील-जलधिरभवो विभव-
स्त्वमरिष्टनेमि-जिनकुञ्जरोऽजरः ॥२॥

'विकसित-कमलदलके समान दीर्घ नेत्रोंके धारक और हरि-वंशमें ध्वजरूप हे अरिष्टनेमि-जिनेन्द्र! आप भगवान्—सातिशयज्ञानवान्—, ऋषि—ऋद्धिसम्पन्न—, और शीलसमुद्र—अठारह हज़ार शीलोंके धारक—हुए हैं; आपने परमयोगरूप शुक्लध्यानाग्निसे कल्मषेन्धनको—ज्ञानावरणादिरूप कर्मकाष्ठको—भस्म किया है और ज्ञानकी विपुल (निरवशेष-द्योतनसमर्थ विस्तीर्ण) किरणोंसे सम्पूर्ण जगत अथवा लोकालोकको जानकर आप निर्दोष (मायादिरहित) विनय तथा दमरूप तीर्थके नायक हुए हैं—आपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप और उपचाररूप पंच प्रकारके विनय तथा पंचेन्द्रिय-जयरूप पंचप्रकार दमनके प्रतिपादक प्रवचन-तीर्थका प्रवर्तन किया है। (साथ ही) आप जरासे रहित और भवसे विमुक्त हुए हैं।'

त्रिदशेन्द्र-मौलि-मणि-रत्न-
किरण-विसरोपचुम्बितम् ।
पाद-युगलममलं भवतो
विकसत्कुशेशय-दलाऽरुणोदरम् ॥३॥
नख-चन्द्र-रश्मि-कवचाऽति-
रुचिर-शिखराऽङ्गुलि-स्थलम् ।
स्वार्थ-नियत-मनसः सुधियः
प्रणमन्ति मन्त्र-मुखरा महर्षयः ॥४॥

'आपके उस निर्मल चरण-युगलको, जो (नत-मस्तक हुए) देवेन्द्रोंके मुकटोंकी मणियों और वज्रादिरत्नोंकी किरणोंके प्रसारसे उपचुम्बित है, जिसका उदर—पादतल—विकसित कमलदलके समान रक्तवर्ण है और जिसकी अंगुलियोंका उन्नत प्रदेश नखरूप-चन्द्रमाओंकी किरणोंके परिमण्डलसे अति सुन्दर मालूम होता है, वे सुधी महर्षिजन प्रणाम करते हैं जो अपना आत्महितसाधनमें दत्तचित्त हैं और जिनके मुखपर सदा स्तुति-मन्त्र रहते हैं।'

द्युतिमद्रथाङ्ग-रवि-बिम्ब-
किरण-जटिलांशुमण्डलः ।
नील-जलद-जल-राशि-वपुः
सह बन्धुभिर्गरुडकेतुरीश्वरः ॥५॥

हलभृच्च ते स्वजनभक्ति-
मुदित-हृदयौ जनेश्वरौ ।
धर्म-विनय-रसिकौ सुतरां
चरणाऽरविन्द-युगलं प्रणेमतुः ॥६॥

'जिनके शरीरका दीप्तिमण्डल द्युतिको लिए हुए सुदर्शनचक्ररूप रविमण्डलकी किरणोंसे जटिल है—सवलित है—और जिनका शरीर नील कमल-दलोंकी राशिके समान श्यामवर्ण है उन गरुडध्वज—नारायण—और हलधर—बलभद्र—दोनों लोकनायकोंने, जो स्वजनभक्तिसे प्रमुदितचित्त थे और धर्मरूप विनयाचारके रसिक थे, आपके दोनों चरणकमलोंको बन्धु-जनोंके साथ बार बार प्रणाम किया है।'

ककुदं भुवः खचरयोषि-
दुषित-शिखरैरलङ्कृतः ।
मेघ-पटल-परिवीत-तट-
स्तव लक्षणानि लिखितानि वज्रिणा ॥७॥

वहतीति तीर्थमृषिभिश्च
सततमभिगम्यतेऽद्य च ।
प्रीति-वितत-हृदयैः परितो
भृशमूर्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः ॥८॥

'जो पृथ्वीका ककुद है—बैलके कन्धेके समीप स्थित ककुद-नामक सर्वोपरिभाग जिस प्रकार शोभासम्पन्न होता है उसी प्रकार जो पृथ्वीके सब अवयवोंके ऊपर स्थित शोभा सम्पन्न उच्चस्थानकी गरिमाको प्राप्त है—विद्याधरोंकी स्त्रियोंसे सेवित शिखरोंसे अलंकृत है और मेघपटलोंसे व्याप्त तटोंको लिये हुए है वह विश्रुत—लोकप्रसिद्ध—ऊर्जयन्त (गिरनार) नामका पर्वत (हे नेमिजिन) इन्द्रद्वारा लिखे गये—उत्कीर्ण हुए—आपके चिन्होंको धारण करता है, इसलिए तीर्थस्थान है और आज भी भक्तिसे उल्लसितचित्त ऋषियोंद्वारा सब ओरसे निरन्तर अतिसेवित है—भक्तिभरे ऋषिगण अपनी आत्मसिद्धिके लिये बड़े चावसे आपके इस पुण्यस्थानका आश्रय लेते रहते हैं।'

बहिरन्तरप्युभयथा च
करणमविघाति नाऽर्थकृत् ।

नाथ! युगपदखिलं च सदा
त्वमिदं तलाऽऽमलकवद्विवेदिथ ॥९॥
अत एव ते बुध-नुतस्य
चरित-गुणमद्भुतोदयम् ।
न्याय-विहितमवधार्य जिने
त्वयि सुप्रसन्न-मनसः स्थिता वयम्॥१०॥(१३०)

'हे नाथ! आपने इस अखिल विश्वको—चराचर जगतको—सदा कर-तल-स्थित स्फटिक मणिके समान युगपत् जाना है, और आपके इस जाननेमें बाह्य करण—चक्षुरादिक—और अन्तःकरण—मन—ये अलग अलग तथा दोनों मिलकर भी न तो कोई बाधा उत्पन्न करते हैं और न किसी प्रकारका उपकार ही सम्पन्न करते हैं। इसीसे हे बुध जन-स्तुत—अरिष्टनेमि जिन! आपके न्याय-विहित और अद्भुत उदय-सहित—समवसरणादि-विभूतिके प्रादुर्भावको लिये हुए—चरित-माहात्म्यको भले प्रकार अवधारण करके हम बड़े प्रसन्न-चित्तसे आपमें स्थित हुए हैं—आपके भक्त बने हैं और हमने आपका आश्रय लिया है।' ——

२३

श्रीपार्श्व-जिन-स्तवन

तमाल-नीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः
प्रकीर्ण-भीमाऽशनि-वायु-वृष्टिभिः ।

बलाहकैर्वैरि-वशैरुपद्रुतो
महामना यो न चचाल योगतः ॥१॥

'तमालवृक्षके समान नील-श्यामवर्णके धारक, इन्द्रधनुषों तथा विद्युद्गुणोंसे युक्त और भयङ्कर वज्र, वायु तथा वर्षाको सब ओर बखेरनेवाले ऐसे वैरि-वशवर्ती—कमठ शत्रुके इशारेपर नाचने वाले—मेघोंसे उपद्रुत होनेपर—पीडित किये जानेपर—भी जो महामना योगसे—शुक्लध्यानसे—चलायमान नहीं हुए।'

बृहत्फणा-मण्डल-मण्डपेन
यं स्फुरत्तडित्पिङ्ग-रुचोपसर्गिणम् ।
जुगूह नागो धरणो धराधरं
विराग-संध्या-तडिदम्बुदो यथा ॥२॥

'जिन्हें उपसर्गप्राप्त होनेपर धरणेन्द्र नामके नागने चमकती हुई बिजलीकी पीत दीप्तिको लिये हुए बृहत्फणाओंके मण्डलरूप मण्डपसे उसी प्रकार वेष्टित किया जिस प्रकार कृष्णसन्ध्यामें विद्युतोपलक्षित मेघ अथवा विविधवर्णोंकी संध्यारूप विद्युतसे उपलक्षित मेघ पर्वतको वेष्टित करता है।'

स्व-योग-निस्त्रिंश-निशात-धारया
निशात्य यो दुर्जय-मोह-विद्विषम् ।
अवापदाऽऽर्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं
त्रि-लोक-पूजाऽतिशयाऽऽस्पदं पदम् ॥३॥

'जिन्होंने अपने योग—शुक्लध्यान—रूप खड्गकी तीक्ष्ण धारासे दुर्जय मोह-शत्रुका घात करके उस आर्हन्त्यपदको प्राप्त किया है जो कि अचिन्त्य है, अद्भुत है और त्रिलोककी पूजाके अतिशय (परमप्रकर्ष)का स्थान है।'

यमीश्वरं वीक्ष्य विधूत-कल्मषं
तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः ।
वनौकसः स्व-श्रम-वन्ध्य-बुद्धयः
शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥४॥

'जिन्हें विधूतकल्मष—घातिकर्मचतुष्टयरूप पापसे रहित—, शमोपदेशक—मोक्षमार्गके उपदेष्टा—और ईश्वरके—सकल-लोक-प्रभुके—रूपमें देखकर वे (अन्यमतानुयायी) वनवासी तपस्वी भी शरणमें प्राप्त हुए—मोक्षमार्गमें लगे—जो अपने श्रमको—पंचाग्निसाधनादिरूप प्रयासको—विफल समझ गये थे और वैसे ही (भगवान् पार्श्व-जैसे विधूतकल्मष ईश्वर) होनेकी इच्छा रखते थे।'

स सत्य-विद्या-तपसां प्रणायकः
समग्रधीरुग्रकुलाऽम्बरांशुमान् ।
मया सदा पार्श्वजिनः प्रणम्यते
विलीन-मिथ्यापथ-दृष्टि-विभ्रमः ॥५॥ (१३५)

'वे (उक्त गुणविशिष्ट) श्रीपार्श्वजिन मेरे द्वारा प्रणाम किये जाते हैं, जो कि सच्ची विद्याओं तथा तपस्याओंके प्रणेता हैं, पूर्णबुद्धि—सर्वज्ञ—हैं, उग्रवंशरूप आकाशके चंद्रमा हैं और जिन्होंने मिथ्यादर्शनादिरूप कुमार्गकी दृष्टियोंसे उत्पन्न होनेवाले विभ्रमोंको—सर्वथा नित्य-क्षणिकादिरूप बुद्धि-विकारोंको—विनष्ट किया है—अथवा यों कहिए कि भव्यजन जिनके प्रसादसे सम्यग्दर्शनादिरूप सन्मार्गके उपदेशको पाकर अनेकान्त-दृष्टि बने हैं और सर्वथा एकान्त-वादि-मतोंके विभ्रमसे मुक्त हुए हैं।'

२४
श्रीवीर-जिन-स्तवन

कीर्त्या भुवि भासि तया
वीर ! त्वं गुण-समुत्थया भासितया ।
भासोडुसभाऽसितया
सोम इव व्योम्नि कुन्द-शोभाऽऽसितया ॥१॥

'हे वीर जिन ! आप उस निर्मलकीर्तिसे—ख्याति अथवा दिव्यवाणीसे— जो (आत्म-शरीर-गत) गुणोंसे समुद्भूत है, पृथ्वी-पर उसी प्रकार शोभाको प्राप्त हुए हैं जिस प्रकार कि चन्द्रमा आकाशमें नक्षत्र-सभा-स्थित उस प्रभा—दीप्तिसे शोभता है जो कि कुन्द-पुष्पोंकी शोभाके समान सब ओरसे धवल है।'

तव जिन ! शासन-विभवो
जयति कलावपि गुणाऽनुशासन-विभवः ।
दोष-कशाऽसनविभवः स्तुवन्ति
चैनं प्रभा-कृशाऽऽसनविभवः ॥ २ ॥

'हे वीर जिन ! आपका शासन-माहात्म्य--आपके प्रवचनका यथावस्थित पदार्थोंके प्रतिपादन-स्वरूप गौरव—कलिकालमें भी जयको प्राप्त है—सर्वोत्कृष्टरूपसे वर्त रहा है—, उसके प्रभावसे गुणोंमें अनुशासन-प्राप्त शिष्यजनोंका भव विनष्ट हुआ है—संसारपरि-भ्रमण सदाके लिए छूटा है- इतना ही नहीं, किन्तु जो दोषरूप चाबुकोंका निराकरण करनेमें समर्थ हैं—चाबुकोंकी तरह पीडाकारी

काम-क्रोधादि दोषोंको अपने पास फटकने नहीं देते—और अपने ज्ञानादि-तेजसे जिन्होंने आसन-विभुओंको—लोकके प्रसिद्ध नायकोंको—निस्तेज किया है वे—गणधरदेवादि महात्मा—भी आपके इस शासन-माहात्म्यकी स्तुति करते हैं।'

अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाऽविरोधतः स्याद्वादः।
इतरो न स्याद्वादो सद्वितयविरोधान्मुनीश्वराऽस्याद्वादः ॥३॥

'हे मुनिनाथ! 'स्यात्' शब्द-पुरस्सर कथनको लिए हुए आपका जो स्याद्वाद है—अनेकान्तात्मक प्रवचन है—वह निर्दोष है; क्योंकि दृष्ट—प्रत्यक्ष—और इष्ट—आगमादिक—प्रमाणोंके साथ उसका कोई विरोध नहीं है। दूसरा 'स्यात्' शब्द-पूर्वक कथनसे रहित जो सर्वथा एकान्तवाद है वह निर्दोष प्रवचन नहीं है; क्योंकि दृष्ट और इष्ट दोनोंके विरोधको लिये हुए है—प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित ही नहीं, किन्तु अपने इष्ट-अभिमतको भी बाधा पहुँचाता है और उसे किसी तरह भी सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकता।'

त्वमसि सुराऽसुर-महितो
ग्रन्थिकसत्त्वाऽऽशयप्रणामाऽमहितः।
लोक-त्रय-परमहितो
ऽनावरणज्योतिरुज्ज्वलद्धाम-हितः ॥ ४ ॥

'(हे वीर जिन!) आप सुरों तथा असुरोंसे पूजित हैं, किन्तु ग्रन्थिकसत्त्वोंके—मिथ्यात्वादि-परिग्रहसे युक्त प्राणियोंके—(अभक्त) हृदयसे प्राप्त होनेवाले प्रणामसे पूजित नहीं हैं—भले ही वे ऊपरी प्रणामादिसे पूजा करें, वास्तवमें तो सम्यग्दृष्टियोंके ही आप पूजा-पात्र हैं। (किसी किसीके द्वारा पूजित न होनेपर भी) आप तीनों लोकके

प्राणियोंके लिए परमहितरूप हैं—राग-द्वेषादि-हिंसाभावोंसे पूर्णतया रहित होनेके कारण किसीके भी अहितकारी नहीं, इतना ही नहीं, किन्तु अपने आदर्शसे सभी भविकजनोंके आत्म-विकासमें सहायक हैं—,आवरणरहित ज्योतिको लिये हुए हैं—केवलज्ञानके धारक हैं—और उज्ज्वलधामको—मुक्तिस्थानको—प्राप्त हुए हैं अथवा अनावरण ज्योतियोंसे—केवलज्ञानके प्रकाशको लिए हुए मुक्तजीवोंसे—जो स्थान प्रकाशमान है उसको—सिद्धशिलाको—प्राप्त हुए हैं।'

सभ्यानामभिरुचितं
दधासि गुण-भूषणं श्रिया चारु-चितम्।
मग्नं स्वस्यां रुचितं
जयसि च मृग-लाञ्छनं स्व-कान्त्या रुचितम् ॥५॥

'(हे वीर जिन!) आप उस गुणभूषणको—सर्वज्ञ-वीतरागतादिरूप गुणोंके आभूषणोंको—धारण किए हुए हैं जो सभ्यजनों अथवा समवसरण-सभा-स्थित भव्यजनोंको रुचिकर है—इष्ट है—और श्रीसे—अष्ट प्रातिहार्यादिरूप विभूतिसे—ऐसे रूपमें पुष्ट है जिससे उसकी शोभा और भी बढ़ जाती है। और अपने शरीरकी कान्तिसे आप उस मृगलाञ्छन—चन्द्रमाको जीतते हैं जो अपनी दीप्तिमें मग्न है और सबको सुन्दर तथा प्यारा मालूम होता है—आपके शरीरका सौन्दर्य और आकर्षण पूर्ण चन्द्रमासे भी बढ़ा चढ़ा है।'

त्वं जिन! गत-मद-माय-
स्तव भावानां मुमुक्षु-कामद! मायः।
श्रेयान् श्रीमदमाय-
स्त्वया समादेशि सप्रयाम-दमाऽयः ॥६॥

'मुमुक्षुओंको इच्छित प्रदान करनेवाले—उनकी मुक्ति-प्राप्तिमें परमसहायक—(हे वीर जिन !) आप मद और मायासे रहित हैं—अकषायभावको प्राप्त होनेसे निर्दोष हैं—, आपका जीवादि-पदार्थोंका परिज्ञान—केवलज्ञानरूप प्रमाण—(सकल बाधाओंसे रहित होनेके कारण) अतिशय प्रशंसनीय है, और आपने श्रीविशिष्ट—हेयोपादेय तत्त्वके परिज्ञान-लक्षणा लक्ष्मीसे युक्त—तथा कपट-रहित यम और दम-का—महाव्रतोंके अनुष्ठान तथा परम इन्द्रियजयका—उपदेश दिया है।'

गिरिभित्त्यवदानवतः श्रीमत इव दन्तिनः स्रवद्दानवतः ।
तव शम-वादानवतो गतमूर्जितमपगत-प्रमादानवतः ॥७॥

'जिस प्रकार झरते हुए मदके दानी और गिरि-भित्तियों—पर्वत-कटनियों—का विदारण करनेवाले (महासामर्थ्यवान) और श्रीमान—सर्वलक्षणसम्पन्न उत्तम-जाति विशिष्ट—गजेन्द्रका स्वाधीन गमन होता है उसी प्रकार परम अहिंसा-दान—अभयदान के दानी हे वीर जिन ! शमवादोंकी—रागादिक दोषोंकी उपशान्तिके प्रतिपादक आगमोंकी—रक्षा करते हुए आपका उदार विहार हुआ है।—आपने अपने विहार-द्वारा जगतको रागादिक दोषोंके शमनरूप परमब्रह्म-अहिंसाका, सद्दृष्टि-विधायक अनेकान्तवादका और समता-प्रस्थापक साम्य-वादका उपदेश दिया है, जो सब (अहिंसा, अनेकान्तवाद और साम्यवाद) लोकमें मद—अहंकारका त्याग, वैर—विरोधका परिहार और परस्पर अभय-दानका विधान करके सर्वत्र शान्ति-सुखकी स्थापना करते हैं और इस लिये सन्मार्ग-स्वरूप हैं। साथ ही, वैषम्य-स्थापक, हिंसा-विधायक और सर्वथा एकान्त-प्रतिपादक उन सभी वादों-मतोंका खण्डन किया है जो गिरि-भित्तियोंकी तरह सन्मार्गमें बाधक बने हुए थे।'

बहुगुण-सम्पदसकलं
परमतमपि मधुर-वचन-विन्यास-कलम् ।
नय-भक्त्यवतंस-कलं
तव देव ! मतं समन्तभद्रं सकलम् ॥ ८ ॥ (१४३)

'हे वीर जिनदेव ! जो परमत है—आपके अनेकान्त-शासनसे भिन्न दूसरोंका शासन है—वह मधुर वचनोंके विन्याससे—कानोंको प्रिय मालूम देनेवाले वाक्योंकी रचनासे—मनोज्ञ होता हुआ भी—प्रकट रूपमें मनोहर तथा रुचिकर जान पड़ता हुआ भी—बहुगुणोंकी सम्पत्तिसे विकल है—सत्यशासनके योग्य जो यथार्थवादिता और पर-हितप्रतिपादनादि-रूप बहुतसे गुण हैं उनकी शोभासे रहित है—सर्वथैकान्तवादका आश्रय लेनेके कारण वे शोभन गुण उसमें नहीं पाये जाते—और इसलिए वह यथार्थ वस्तुके निरूपणादिमें असमर्थ होता हुआ वास्तवमें अपूर्ण, सबाध तथा जगत्के लिए अकल्याणकारी है। किन्तु आपका मत—शासन—नयोंके भङ्ग—स्यादस्ति-नास्त्यादि- रूप अलंकारोंसे अलंकृत है अथवा नयोंकी भक्ति-उपासनारूप आभूषणको प्रदान करता है—अनेकान्तवादका आश्रय लेकर नयोंके सापेक्ष व्यवहारकी सुन्दर शिक्षा देता है—और इस तरह—यथार्थवस्तु-तत्त्वके निरूपण और परहित-प्रतिपादनादिमें समर्थ होता हुआ—बहुगुण-सम्पत्तिसे युक्त है, (इसीसे) पूर्ण है और समन्तभद्र है—सब ओरसे भद्ररूप, निर्बाधतादि-विशिष्ट शोभासम्पन्न एवं जगत्के लिए कल्याणकारी है।'

इति श्रीनिरवद्यस्याद्वादविद्याधिपति—सकलतार्किकचक्रचूडामणि—श्रद्धा-गुणज्ञतादिसातिशयगुणगणविभूषित—सिद्धसारस्वत—स्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचितं चतुर्विंशतिजिनस्तवनात्मकं स्वयम्भूस्तोत्रं समाप्तम् ।

परिशिष्ट

१. स्वयम्भू-स्तवन-छन्द-सूची

स्तवनाङ्क	छन्दनाम	छन्दलक्षण
१	वंशस्थ	प्रत्येक चरणमें जगण, तगण, जगण, रगणके क्रमको लिये हुए द्वादशाक्षर (४.७) वृत्तका नाम 'वंशस्थ' है।
२	उपजाति	इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्राके चरणमिश्रणसे बना हुआ छन्द 'उपजाति' कहलाता है।
३	१,४ इन्द्रवज्रा, २ उपेन्द्रवज्रा, ३-४ उपजाति	प्रतिचरण तगण, तगण, जगण और अन्तमें दो गुरुके क्रमको लिये हुए एकादशवर्णात्मक वृत्तको 'इन्द्रवज्रा' कहते हैं और चरणारम्भमें गुरुके स्थान पर लघु अक्षर (जगण) हो तो वही 'उपेन्द्रवज्रा' हो जाता है।
४	वंशस्थ	उपर्युक्त (१)

५१-४	उपजाति. ५ उपेन्द्रवज्रा	उपर्युक्त (२) " (३)
६-६	उपजाति	उपर्युक्त (२)
१०	वंशस्थ	उपर्युक्त (१)
११	१. ४, ५. उपजाति २.३ उपेन्द्रवज्रा	उपर्युक्त (२) " (३)
१२	१,३,४, उपजाति. २ उपेन्द्रवज्रा ५ इन्द्रवज्रा	उपर्युक्त (२) " (३)
१३,१४	वंशस्थ	उपर्युक्त (१)
१५	रथोद्धता	रगण, नगण, रगण और लघु-गुरुके क्रमको लिये हुए एकादशवर्णात्मक - चरण-वृत्त का नाम 'रथोद्धता' है।
१६	उपजाति	उपर्युक्त (२)
१७	वसन्ततिलका	तगण, भगण, जगण जगण और अन्तमें दो गुरुके क्रमको लिये हुए चतुर्दश - वर्णात्मक (८.६) चरणवृत्तका नाम 'वसन्ततिलका' है।
१८	१-१८ पथ्यावक्त्र-अनुष्टुप् १६.२० सुभद्रिका-मालती-मिश्र-यमक	अनुष्टुप्के प्रत्येक चरणमें आठ अक्षर होते हैं, जिनमें ५वां लघु, ६ठा गुरु और ७ वां अक्षर समचरणों (२.४)

में लघु तथा विषमचरणों (१.३) में गुरु होता है। और जिसके समचरणोंमें चार अक्षरोंके बाद 'जगण' हो उसे 'पथ्या-वक्त्र अनुष्टुप्' कहते हैं।

नगण, नगण, रगण और लघु-गुरुके क्रमको लिये हुए एकादशवर्णात्मक चरणवृत्तका नाम 'सुभद्रिका' है और नगण, जगण,जगण, रगणके क्रमको लिए हुए द्वादशाक्षरात्मक चरणवृत्तका नाम 'मालती' है। इन दोनोंके चरण-मिश्रणसे बना हुआ छन्द 'सुभद्रिका-मालती-मिश्र - यमक' कहा जाता है।

१९ वानवासिका — जिसके प्रत्येक चरणमें १६ मात्राएँ और उनमें ९वीं तथा १२वीं मात्रा लघु हो उसे 'वानवासिका' छन्द कहते हैं।

२० वैतालीय — जिसके प्रथम, तृतीय (विषम) चरणोंमें १४ और द्वितीय, चतुर्थ (सम) चरणोंमें १६ मात्राएँ होती हैं तथा विषम चरणोंमें ६ मात्राओंके और समचरणोंमें ८ मात्राओंके बाद क्रमशः 'रगण' तथा

		लघु-गुरु होते हैं उसे 'वैतालीय-वृत्त' कहते हैं।
२१	शिखरिणी	प्रत्येक चरणमें यगण मगण, तगण, सगण, भगण और लघु-गुरुके क्रमको लिये हुए सप्तदश (६.११) वर्णात्मक वृत्तका नाम 'शिखरिणी' है।
२२	उद्गता	जिसके प्रथमचरणमें क्रमशः सगण, जगण सगण और लघु, द्वितीय चरणमें नगण, सगण, जगण और गुरु, तृतीय चरणमें भगण, नगण, जगण और लघु-गुरु तथा चौथे चरणमें सगण, जगण, सगण, जगण और गुरु हों उसे 'उद्गता' वृत्त कहते है।
२३	वंशस्थ	उपर्युक्त (१)
२४	आर्यागीति (स्कन्धक)	जिसके विषमचरणोंमें १२-१२ और समचरणोंमें २०-२० मात्राएं होती हैं उसे 'आर्यागीति' अथवा 'स्कन्धक' वृत्त कहते हैं।

गणलक्षण—आठगणोंमेंसे जिसके आदिमें गुरु वह 'भगण,' जिसके मध्यमें गुरु वह 'जगण', जिसके अन्तमें गुरु वह 'सगण,' जिसके आदिमें लघु वह 'यगण,' जिसके मध्यमें लघु वह 'रगण', जिसके अन्तमें लघु वह 'तगण,' जिसके तीनों वर्ण गुरु वह 'मगण' और जिसके तीनों वर्ण लघु वह 'नगण' कहलाता है। लघु एकमात्रिक और गुरु द्विमात्रिक होता है।

२. अर्हत्सम्बोधन-पदावली

स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें तीर्थङ्कर अर्हन्तोंके लिये जिन विशेषणपदोंका प्रयोग किया है उनका एक संग्रह स्तवन-क्रमसे प्रस्तावनामें दिया गया है और उसके देनेमें यह दृष्टि व्यक्त की गई है कि उससे अर्हत्स्वरूपपर अच्छा प्रकाश पड़ता है और वह नयविवक्षाके साथ अर्थपर दृष्टि रखते हुए उन (विशेषणपदों) का पाठ करनेपर सहजमें ही अवगत हो जाता है। यहाँपर उन सम्बोधन-पदोंका स्तोत्रक्रमसे एकत्र संग्रह दिया जाता है जिनसे स्वामीजी अपने इष्ट अर्हन्तदेवोंको पुकारते थे और जिन्हें स्वामीजीने अपने स्वयम्भू, देवागम, युक्त्यनुशासन और स्तुतिविद्या नामके चार उपलब्ध स्तोत्रोंमें प्रयुक्त किया है। इससे भी अर्हत्स्वरूपपर अच्छा प्रकाश पड़ता है और वह नयविवक्षाके साथ अर्थपर दृष्टि रखते हुए पाठ करनेपर और भी सामने आ जाता है। साथ ही, इससे पाठकोंको समन्तभद्रकी चित्तवृत्ति और रचना-चातुरीका कितना ही नया एवं विशेष अनुभव भी प्राप्त हो सकेगा। स्तुतिविद्याके अधिकांश सम्बोधनपद तो बड़े ही विचित्र, अनूठे, गम्भीर तथा अर्थगौरवको लिये हुए जान पड़ते हैं और वे सब संस्कृतभाषापर समन्तभद्रके एकाधिपत्यके सूचक हैं। उनके अर्थका कितना ही आभास स्तुतिविद्याके उस अनुवादपरसे हो सकेगा जो गत वर्ष वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित हुआ है। शेष सम्बोधनपदोंका अर्थ सहज ही बोधगम्य है। एक स्तोत्रमें जो सम्बोधनपद एकसे अधिक बार प्रयुक्त हुए हैं उन्हें उस स्तोत्रमें प्रथम प्रयोगके स्थान-पर ही पद्याङ्कके साथ ग्रहण किया गया है और अन्यत्र प्रयोगकी

सूचना ब्रेकटके भीतर पद्याङ्कोंको देकर की गई है। स्तुतिविद्याके सम्बोधनपदोंको स्तवनक्रमसे (स्तवनका नम्बर पैरेग्राफके शुरूमें ही देते हुए) रक्खा गया है और उनके स्थानकी सूचना पद्याङ्कों-द्वारा पद्यसम्बन्धी सम्बोधनपदोंके अन्तमें तथा ब्रेकटके भीतर उन्हें देकर की गई है।

१ स्वयम्भूमें प्रयुक्त पद—नाथ १४ (२५, ५७, ७५, ९६, १२६). आर्य १५ (४८, ६८). प्रभो २० (६९), सुविधे ४१, अनघ ४६. जिन ५० (११०, ११४, १३७, १४१). शीतल ५०, मुनीन्द्र ५६ (८५). महामुने ७०. धीर ७४ (९०, ९४). जिनवृष ७५, अरजिन १०४. वरद १०५. (कृतमदनिग्रह ११२), यते ११३, धीमन् ११७. भगवन ११७. वीर १३६. मुनीश्वर १३८. मुमुक्षु-कामद १४१. देव १४३।

२ देवागममें प्रयुक्त पद—नाथ ८. मुनीन्द्र २०।

३ युक्त्यनुशासनमें प्रयुक्त पद—जिन २ (४. ६, ३०, ३४, ५२, ६४). वीर ३३. जिननाग ४४. मुने ५८।

४ स्तुतिविद्यामें प्रयुक्त सम्बोधनपद—

(१) नतपीलासन, अशोक. सुमनः. ऋषभ ५; आर्य (२६, ४७, ५५. ८८. ९२) ८; स्तुत १०; ईड्य. महोरुगुरवे १२; अता-तिततोतीत. ततोततः १३; येयायायाययेयाय, नानानूनाननानन, ममम (९३). अमितातर्ताततितर्तातितः १४; महिमाय. पद्मायास-हितायते १५।

(२) सदक्षर. अजर (८३. ११२), अजित. प्रभो (२७) १६; सदक्षराजराजित. प्रभोदय. तान्तमोह १७।

(३) वामेश (८६. ८८. ९८). एकार्च्य. शंभव १९; जिन (२३, ९१, ९२), अविभ्रम २०।

(४) अतमः, अभिनन्दन (२० २३. २४) २१; नन्द्यनन्त-द्धर्यनन्त. इन (२४. २८. ७५. ८६. ८८. ९१. १०८. १११) २३; नन्दनम्वर २४।

(५) सुमते. दातः (९३) २५; देव (२८. ८३). अक्षयार्जव, वर्य (५४. ६८, ११०). अमानोरुगौरव २६।

(६) अपापापदमेयश्रीपादपद्म. पद्मप्रभ. मतिप्रद २७; विभो (८६. ८७). अजेय (७५. ९५), ततामित २८।

(८) एकस्वभाव ३५; शशिप्रभ ३६।

(९) अज (४४. ४६. ८६) ३७; नायक, मन्मजर ३८; अव्याधे, पुष्पदन्त. स्ववत्पते ३९; धीर (६३) ४०।

(१०) भूतनेत्र. पते ४१।

(११) तीर्थादे ४३: अपराग (४७). महितावार्य ४६; श्रेयन् विदार्यसहित. समुत्सन्नजव ४७।

(१२) वासुपूज्य ४८।

(१३) अनंत: (१०८) ५२: नयमानक्षम. अमान (९३), आर्यार्तिनाशन, उरो. अरिमाय ५३।

(१४) वर्णाभ. अतिनन्द्य, वन्द्य. अनन्त. सदारव, वरद. (११०), अनिननार्याव. अतान्तसभार्णव ५४; नुन्नानृत (१०९). उन्नत, अनन्त ५५।

(१५) अबाध. दमेनर्द्ध, मन. धर्मप्रभ. गोधन. अनागः, धर्म, शर्मतमप्रद ५ ; नतपाल. महाराज. गीत्यानुत, अक्षर (८४, ८६, ८९, ११२). मलपातन ५७; नाथ ६०; देवदेव ६२; स्थिर (८९), उदार ६३; ईडित. भगोः ६४।

(१६) बलाढ्य ६९; अधिपते ७०; बुधदेव ७१; संगतोहीन ७२; स्वसमान, भासमान, अनघ ७९।

(१७) अनिज ८१; नतयात, विदामीश, दावितयातन, रज-

सामन्त. असन्तमस ८३; पारावाररवार. क्षमाक्ष. वामानाममन, श्रद्ध (१०८) ८४।

(१८) वीरावार, अर. वरर. वीर ८५; चारुरुचानुत. अनशान (९१); उरुनम्र. विजरामय ८६; यमराज. विनम्रेन. रुजोनाशन, चारुरुचामीश ८७; स्वयं. स्वयमाय. आर्यस्वमायन. दमराज. ऋतवाद. नदेवार्तजगामद ८८; रक्षार. अदर. शूर ८९।

(२०) हानिर्हीन. अनन्त (१११). ज्ञानस्थानस्थ. आनतनन्दन ९१; पावन. अजितगोतेजः. वर. नानाव्रत. अक्षते. नानाश्चर्य, सुवीतागः. मुनिसुव्रत ९२।

(२१) नमे. अनामनमनः. नामनमनः ९३; नः. दयाभ. ऋत-वागोद्य. गोवार्तभयाहन. अनुनुत. नतामित ९५; स्वय. मेध्य, श्रिया नुनयाश्रित. शान्तेश. शुद्धयाऽमेय. स्वभीत ९६।

(२२) मदयशः. अमेय. रुगुरो. यमेश. उद्यतमतानुत ९८।

(२३) ममतार्तात, उन्नममनामृत, ननामितमते. नातमत. अनी-नमृते. अमित १००।

(२४) वामदेव. क्षमाजेय. श्रीमते. वर्द्धमानाय. नमोन (१०४) १०३; श्रीम १०४; सुगनत १०७; वर्द्धमान, श्रेय १०८; नाना-नन्तनुतान्त, नान्तिननिनुन. नुन्नान्त. नूर्तानेन. नितान्तनानि-तनुते नूर्तानिननिनान्ततानितनुते. निनूत, नुतानन १०९. वन्दारु-प्रबलाजवंजवभयप्रध्वंसिगोप्राभव. वर्द्धिष्णो. विलसद्गुणार्णव. जगन्निर्वाणहेतो. शिव. वन्दीभूतसमस्तदेव. प्राज्ञकदक्षस्तव. गरु-बन्ध. अभव ११०; नष्टाज्ञान. मलोन. शाश्वनगुरो. नष्टग्लान. सुमान. पावन. भासन. नन्दकेन. रुजोन. मज्जनपते. अवन. मज्जिन १११; रम्य. अपारगुण. अरजः, सुरवरैरर्च्य. श्रीधर, रत्यून. अरतिदूर. भासुर. अर्य, उत्तरद्धीश्वर. शरण्य. आधीर, सुधीर. विद्वर. गुरो ११२; तेजःपते ११४।

३. स्वयम्भूस्तोत्र-पद्यानुक्रमणी

वीरसेवामन्दिरके अन्य प्रकाशन

१ आप्तपरीक्षा—विद्यानंदकी स्वोपज्ञटीकायुक्त अपूर्वकृति. अनुवादादिसहित सजिल्द ८)
२ बनारसी-नाममाला—हिन्दी शब्दकोश, शब्दानुक्रमसहित ।)
३ श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—हिन्दी अनुवादादिसहित ॥।)
४ अनित्यभावना—हिन्दीपद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)
५ उमास्वामिश्रावकाचार-परीक्षा—ऐतिहासिक प्रस्तावनासहित ।)
६ प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—अनुवाद तथा व्याख्या-सहित ।)
७ सत्साधुस्मरण-मङ्गल पाठ—श्रीवीरवर्द्धमान और उनके बादके २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वका संग्रह, हिन्दी अनुवादादि-सहित ॥)
८ अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड—अनुवाद तथा बृहत्प्रस्तावना-सहित १॥)
९ शासन-चतुस्त्रिंशिका (तीर्थपरिचय)—अनुवाद सहित ॥।)
१० विवाह समुद्देश—विवाहका मार्मिक और तात्त्विक विवेचन, उसके अनेक विरोधी विधि-विधानों एवं विचार-प्रवृत्तियोंसे उत्पन्न हुई कठिन और जटिल समस्याओंको सुलझाता हुआ ॥)
११ न्यायदीपिका—संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृतप्रस्तावना अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द ५)
१२ पुरातन-जैनवाक्य-सूची—(जैनप्राकृत पद्यानुक्रमणी)—अनेक उपयोगी परिशिष्टोंके साथ ६४ मूलग्रन्थों और ग्रन्थकारोंके परिचयको लिये हुए विस्तृत प्रस्तावनासे अलंकृत, सजिल्द १५)
१३ स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, संस्कृतटीका, हिन्दी अनुवाद, अनेक चित्रालङ्कारों और महत्वकी प्रस्तावनासे अलंकृत। १॥)
१४ युक्त्यनुशासन—समन्तभद्रकी असाधारण कृति जिसका, अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। विशिष्ट अनुवादसे अलंकृत १।)
१५ अनेकान्त-रस-लहरी—अनेकांतको अतीवसरलतासे समझनेकी कुंजी ।)